

लेखक

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल

मछुआ-टोली
पटना ४

३६, गौतम बुद्ध-मार्ग
लखनऊ

द्वितीयावृत्ति] १९५५ [मूल्य २॥)

प्रकाशक

श्रीराजकुमार भार्गव

अध्यक्ष राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल

मछुआ-टोली, पटना

मुद्रक

श्रीदुलारेलाल

अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस

लखनऊ

सूची

ये फूल !

काश, ये फूल होते ! हमारे पूर्वज कैसे तत्त्वज्ञ थे, जिन्होंने चिता-भस्म में चमकती हड्डियों को फूल का आस्पद दिया। मृत्यु और संहार की विभीषिका को ढकने की यह चेष्टा धन्य है !

अपनी इन सात कहानियों में मृत्यु और संहार की विभीषिकाओं को ही मैंने कलात्मक रूप देने की चेष्टा की है। किंतु इनमें ढकने की कोशिश कहीं नहीं, बल्कि उभारने का ही प्रयास है। हम इन विभीषिकाओं को देखें, समझें, और अपने समाज को ऐसा नया रूप देने की चेष्टा करें, जिसमें हमें ऐसे दृश्य न देखने पड़ें।

मेरी कहानियों का यह पहला संग्रह है। ये फूल इधर-उधर बिखरे पड़े थे—धन्यवाद है श्रीज्योतिलालजी भार्गव को, जिनके बार-बार के आग्रह ने इन्हें संगृहीत होने और प्रकाश में आने को बाध्य किया।

बस—

पटना श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

चि
ता
के
फू
ल

[१]

दोपहर से ही खेतों और मेड़ों से एक-एक तिनका इकट्ठा करते हुए शाम को मनोहर घास के एक बड़े गट्ठर के साथ घर पहुँचा। गट्ठर पटक आँगन में घुसा। मा ने मकाई की चबेनी तैयार कर रक्खी थी। हरी मिर्च और नमक के साथ जल्द-जल्द उसने दस-पाँच फंके मुँह में रक्खे, और लोटा-भर पानी पिया। फिर दरवाज़े पर आ घास की कुट्टी काटी, उसमें थोड़ा रबिया भूसा मिलाया। खूँटे से बँधी, ब्याई भैंस चुकर रही थी। छींटी-भर उसके निकट रखकर चला बुझावन दादा के दरवाज़े।

क्योंकि आज शुक्रवार है न। आज ही तो बुझावन दादा के पास अखबार पहुँच जाता है, क्योंकि डाक-पिउन का बीट आज ही का है। मनोहर ने पढ़ा-लिखा तो थोड़ा ही—किसी तरह टो-टोकर लिख-पढ़ लेता है। मा-बाप का एक-लौता ठहरा। बाप ने स्कूल में पढ़ने को ज़रूर भेजा, किंतु एक तो फ़ीस और 'सीधे' की ज़बरदस्त माँग, दूसरे, अकेले बाप से खेती-गृहस्थी सँभलती न थी, अतः वह अधिक दिनों तक स्कूल में नहीं रह सका। किंतु देश और संसार की ख़बर जानने का उसे बड़ा शौक़ है। हर शुक्रवार को, जब अख़बार आता, मनोहर बुझावन दादा के नज़दीक ज़रूर जाता, और उनसे देश का हाल-चाल जानता। बुझावन दादा भी अपने इस किशोर श्रोता को बहुत मानते, क्योंकि देहात में अख़बार की ख़बरें जानने के लिये उत्सुक लोगों की संख्या ही कितनी होती है?

जाड़े के दिन थे। बुझावन दादा के दरवाज़े पर एक अच्छी-सी धूनी जल रही थी। लोग उसके चारों ओर इकट्ठे हो रहे थे। बुझावन दादा भी वहीं बैठे थे। मनोहर ने वहाँ पहुँचकर छूटते ही पूछा—"दादा, अख़बार का हाल कहिए न। गांधी बाबा का जहाज़ बंबई पहुँचा या नहीं?"

"हाँ-हाँ, उसी जहाज़ पर गांधी बाबा मनोहर के लिये स्वराज्य ला रहे हैं। क्यों मनोहर, स्वराज्य में से थोड़ा हमें भी दोगे?"—धूनी तापनेवालों में से एक ने व्यंग्य से कहा,

और ठठाकर हँस पड़ा। मनोहर इस हँसी पर उबल पड़ा, और वह अपना चरखा चालू ही करनेवाला था कि बुझावन दादा ने एक तो विवाद शांत करने के लिये, दूसरे, उस दिन ख़बर भी ऐसी न थी कि ज्यादा समय तक ज़ब्त रक्खा जा सके, कह उठे—"अरे, बड़ा तमाशा हो गया, मनोहर! जवाहरलालजी गिरफ़्तार हो गए, और गांधीजी भी हो ही चुके होंगे!"

"क्या? जवाहरलालजी गिरफ़्तार? गांधीजी भी? कहाँ, क्यों—अरे, यह क्या?" आदि कितने ही प्रश्न मनोहर ने दनादन किए। बुझावन दादा सबको समझाने लगे—किस तरह गांधीजी ने राउंड टेबुल-कॉन्फ़्रेंस में पूर्ण स्वराज्य का दावा रक्खा; किस तरह उनकी बातों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया; किस तरह उसके अंदर युक्त प्रांत के किसानों ने सस्ती की वजह से अपनी मालगुज़ारी कम करने की बात पेश की; किस तरह उनकी माँग ठुकरा दी गई; किस तरह उन लोगों ने कर-बंदी शुरू की, तो उनका नेतृत्व करने के कारण पं० जवाहरलालजी को गिरफ़्तार किया गया। फिर बुझावन दादा ने बताया—जिस समय जवाहरलालजी गिरफ़्तार किए गए, लगभग उसी समय किस तरह 'लाल कमीज़'-दल के संगठन के लिये ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार-ख़ाँ भी सपरिवार निर्वासित किए गए; किस तरह बंबई में कांग्रेस-कार्य-समिति बैठी, और किस तरह वायसराय से ख़त-किताबत हुई। आज अख़बार में इतनी ही ख़बर है,

किंतु उसमें लिखा है कि गांधीजी का गिरफ़्तार होना भी निश्चित जान पड़ता है ; क्योंकि सरकार पहले से ही तैयार बैठी है, और नए वायसराय का दावा है कि वह एक महीने के अंदर ही इस आंदोलन को दबा लेंगे।

लोगों ने यह समाचार बड़ी उत्सुकता से सुना। फिर बहस-मुबाहसा प्रारंभ हुआ। किसी ने कहा—"भविष्य-पुराण में लिखा है, अँगरेज़ों का सात 'टोपी' तक राज्य रहेगा, अभी तो तीन ही हुई हैं, स्वराज्य कैसे हो ?" किसी ने कहा—"विना युद्धेन केशव !—कहीं विना लड़ाई के राज्य मिलता है ?" किसी ने कहा—"देशी राजे गांधीजी को मदद दें, तो आज स्वराज्य हो जाय।" फिर किसी ने प्रह्लाद की उपमा देकर, तो किसी ने "रावण रथी, बिरथ रघुबीरा" की चौपाइयाँ पढ़कर यह सिद्ध किया कि गांधीजी ज़रूर जीतेंगे; स्वराज्य ज़रूर होगा। किंतु मनोहर चुपचाप सब सुनता रहा। यही नहीं, बहस-मुबाहसे के शोर-गुल के बाद लोगों ने पाया कि मनोहर वहाँ से खिसक चुका था।

ठीक ही मनोहर वहाँ से खिसक चुका था। यह समाचार ही उसके लिये दुःखदायी था। फिर, इस बहस-मुबाहसे ने तो उसके हृदय को चलनी कर दिया। वह ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं था, किंतु बुझावन दादा की संगति और टो-टाकर अख़बार पढ़ने के कारण अपने देश से, अपनी मातृभूमि से उसे ममत्व हो चला था। स्वराज्य में सोने-चाँदी की वर्षा होगी, या भाई

का गला भाई काटेंगे—इस बात पर उसने कभी नहीं ग़ौर किया था। किंतु वह इतना ज़रूर जानता था कि दुनिया में केवल एक उसी का देश है, जो ग़ुलामी का तौक़ पहने हुए है। यह अवस्था उसके लिये असह्य थी। १९३० में जब गांधी-इरविन-सुलह हुई, और गांधीजी राउंड टेबुल-कॉन्फ़्रेंस में गए, तो उसने समझा—ग़ुलामी की ज़ंजीर कटेगी तो नहीं, कुछ ढीली ज़रूर होगी; किंतु इस ख़बर ने उसकी इस आशा पर भी पानी फेर दिया। सबसे ज़्यादा उसे खटका नए वायसराय का यह दावा कि एक महीने के अंदर वह इस आंदोलन को दबा दे सकेंगे। वह चुपचाप घर आया। भैंस दुहने बैठा—कहा नहीं जा सकता, दूध की कितनी धार झबई में पड़ी, और कितनी ज़मीन पर। उस दूध की मीठी धार में उसकी आँखों की नमकीन धारा की दो-एक बूँदें पड़ीं या नहीं—यह भी नहीं मालूम। भोजन करने के बाद वह चुपचाप सोने गया। दूसरे दिन उसकी मा उसकी लाल आँखें देख चौंक पड़ी। उसने समझा, उसकी तबियत ख़राब है—शरीर छुआ, ज्वर तो नहीं था। किंतु, वह बेचारी क्या जानती थी कि एक ज्वर ऐसा भी होता है, जो शरीर को ठंडा रखता है, परंतु हृदय को जलाता है।

दिन-भर मनोहर ने अपने दैनिक कर्म भली भाँति संपन्न करने की चेष्टा की, किंतु किसी काम में भी उसका मन नहीं लगा। यों ही दो-तीन दिन और बीते। वह मशीन-सा सब काम करता रहा। धीरे-धीरे ख़बर मिल गई कि गांधीजी

एवं देश के अन्य सभी नेता एक-एक कर गिरफ़्तार कर लिए गए—कांग्रेस-कमेटियाँ ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गईं—चारों ओर गिरफ़्तारी, ज़ब्ती आदि की धूम है। ऐसी हर ख़बर पर मनोहर की आत्मा ज़ोर से उससे पूछती—"मनोहर, यह क्या हो रहा है? तुम्हारा भी कोई कर्तव्य इस समय है कि नहीं?" उसकी व्याकुलता दिन-दिन भीषण रूप धारण करती जाती।

एक दिन बड़े तड़के मनोहर घर से निकल पड़ा। उसका कोमल मन इतना हृदय-मंथन बरदाश्त नहीं कर सकता था।

[२]

घर से चलकर मनोहर शहर में आया। उसे मालूम था कि कांग्रेस का ज़िला-ऑफ़िस शहर में है। किंतु कांग्रेस तो ग़ैर-क़ानूनी घोषित हो चुकी थी, वह किससे पूछे कि कांग्रेस का ऑफ़िस कहाँ है? शहर में आने पर यह भी पता चला कि जहाँ पहले कांग्रेस का ऑफ़िस था, वहाँ अब पुलिसवालों ने अपना डेरा डाल रक्खा है—जहाँ तिरंगा झंडा लहराता था, वहाँ यूनियन जैक उड़ रहा है।

मनोहर असमंजस में पड़ा हुआ था कि उसने अकस्मात् देखा, उसी की उम्र के पाँच-छ किशोर झंडे लिए, गीत गाते आगे बढ़े आ रहे हैं। कांग्रेस तो ग़ैर-क़ानूनी है, फिर ये नौजवान कहाँ से निकल पड़े? झंडे कहाँ से मिले इन्हें? वे बढ़ते जा रहे थे। मनोहर उन्हें देखकर मन-ही-मन अनेक

तर्क-वितर्क करता उसी ओर आगे खिसक रहा था कि उसने देखा, कुछ पुलिस के जवान दौड़ते हुए उन किशोरों के निकट जा पहुँचे। जाते ही उन्होंने झंडे छीनना शुरू किया। कुछ खींच-तान हुई, पर किशोरों के सुकुमार हाथ पुलिस के ईस्पाती हाथों से कब जीत सकते थे? झंडे छीन लिए गए, और उन्हें गिरफ़्तार कर पुलिस थाने की ओर बढ़ी। वे अब भी जय-जयकार कर रहे और गीत गा रहे थे। उनके पीछे एक छोटी-सी भीड़ भी थी।

भीड़ और गिरफ़्तार लोगों के साथ पुलिस थोड़ी दूर चली कि पीछे से सुनाई पड़ा—"महात्मा गांधी की जय!" सबका ध्यान आकृष्ट हुआ। लोगों ने देखा, एक किशोर वयस्क बालक हाथ में झंडा लिए जय-जयकार कर रहा है। पुलिस में से एक जवान दौड़ा हुआ उसके निकट पहुँचा, और उसे भी गिरफ्तार कर लिया। यह कौन था? यह था मनोहर। पुलिस और स्वयंसेवकों में झंडे को लेकर जब कशमकश हो रही थी, एक झंडा उछलकर भीड़ में जा गिरा था। मनोहर ने उसे छिपाकर रख लिया था, और ज्यों ही वे लोग बढ़े, वह झंडे को उड़ाते हुए जय-जयकार करने लगा। उसने सोचा, कांग्रेस के ऑफ़िस की तलाश कहाँ तक की जाय, उसे पता भी चले या नहीं? क्यों न इन्हीं लोगों के साथ हो चलूँ? जेल होगी? तो, इसीलिये तो आया हूँ। इनसे जान-पहचान हो जाने पर पीछे काम करने में भी सहूलियत होगी।

मनोहर उन साथियों के साथ थाने पर लाया गया। उसने सोचा, रात में उसे थाने में रहना पड़ेगा। कल मैजिस्ट्रेट के सामने वह पेश किया जायगा, जब कि उसे सज़ा मिलेगी। किंतु, यहाँ उसने विचित्र ही हालत देखी। उस समय कुछ पुलिस के अफ़सरों ने सारे क़ानून को अपने हाथों में कर लिया था। उनके ऊँचे अफ़सरों को इसका पता हो, या न हो, किंतु उस समय सबकी ज़बानों पर उन पुलिस-अफ़सरों की ज्याद्-तियाँ नाच रही थीं। मनोहर अभी कच्चा सोना था, किंतु पहली बार ही उसे खरी कसौटी पर चढ़ना पड़ा। वहाँ के पुलिस-अफ़सर ने इन सात सुकुमार बच्चों की सब प्रकार परीक्षा ली—थप्पड़, बेंत, ठोकर, कान पकड़कर उठाना-बैठाना, दीवार में नाक रगड़ाना, कहाँ तक गिनाया जाय। किंतु वाह रे मनोहर! उसने एक बार भी आह न की, वरन् साथियों को भी ढाढ़स दिलाता रहा। और, इस अपराध के चलते तो उसे और भी सज़ा भुगतनी पड़ी, किंतु वह डटा रहा—डटा रहा। पीछे इन सातों को स्टेशन ले जाया गया। कहा गया—तुम पटना-कैंप-जेल में भेजे जाओगे। किंतु उन्हें गाड़ी पर चढ़ाकर, जब गाड़ी खुलने को हुई, रक्षक सज्जन वहाँ से चलते बने। कड़ाके के जाड़े में ठिठुरते हुए सातों बच्चे दूसरे स्टेशन पर उतरे, तो उनकी दुर्दशा का क्या पूछना? उनका क्षत-विक्षत शरीर देखकर स्टेशन-मास्टर को भी दया आ गई। उनकी वह रात उस दयालु स्टेशन-मास्टर

की ही रक्षा में कटी, और भोर ही ये कांग्रेस-शिविर में आ पहुँचे।

कांग्रेस-शिविर में पहुँचकर मनोहर को सबसे प्रसन्नता यह देखकर हुई कि ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिए जाने पर भी कांग्रेस के कामों की शृंखला पूरी तरह अक्षुण्ण है। देहातों से लोग लगातार आते-जाते हैं। थाने-थाने में कांग्रेस के कार्य-क्रमों को अच्छी तरह संपन्न किया जाता है, और उसकी बाज़ाब्ता रिपोर्टें आती हैं। ये रिपोर्टें डाक से न आकर ख़ास स्वयंसेवकों द्वारा आती हैं। स्वराजी डाक एक बाज़ाब्ता संगठन-सा हो गया है। एक ज़िले से दूसरे ज़िले का और सब ज़िलों का प्रांत से घनिष्ठ संबंध इस स्वराजी डाक के कारण बना हुआ है। अख़बार बंद हैं, किंतु कांग्रेस की बुलेटिनें नियमित रूप से प्रकाशित ही नहीं होतीं, बाज़ार में बिकती भी हैं। सबसे विचित्रता तो यह है कि पुलिस प्रायः इधर-उधर छापा मारा करती है; किंतु वह आज तक यह पता नहीं पा सकी कि कांग्रेस का शिविर यथार्थतः है कहाँ। शिविर के स्थान प्रायः बदलते रहते—एक तरह से शिविर एक चलता-फिरता ऑफ़िस बना हुआ है। कांग्रेस के सभी कार्यकर्ताओं में फ़ौजी प्रवृत्ति बढ़ रही है। वे प्रकट और गुप्त लड़ाइयों की कलाएँ धीरे-धीरे जानने लगे हैं।

मनोहर की वीरता की कहानी उन किशोर स्वयंसेवकों से सुनकर शिविर-पति ने उसकी प्रशंसा की, उसकी पीठ ठोकने

से भी वह नहीं चूक सके। मनोहर की उम्र यही सोलह-सत्रह वर्ष की थी—बड़ा भोला-भाला-सा लगता था उसका चेहरा। किंतु उसकी तत्परता और उत्तरदायित्व के ज्ञान ने शिविर के सभी लोगों के मन मोह लिए। जो काम उसे सुपुर्द किया जाता, भली भाँति संपन्न करता। पीछे डाक ले आने और पहुँचाने में तो उसने बड़ी नामवरी हासिल की। न केवल देहातों से, किंतु जिला-ऑफ़िस से प्रांतीय ऑफ़िस में डाक ले जाने और ले आने का काम भी वही करता। सरे आम स्टेशन पर जाता, टिकट कटाता, रेल पर सवार होता, प्रांतीय ऑफ़िस में पहुँचता, किंतु क्या मजाल कि कोई उसे पकड़ पावे। वह भोला-भाला चेहरा। फिर वेष भी तो प्रायः बदलता। एक दिन जब भिखमंगे की सूरत उसने बनाई, तो सभी साथी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए। यों ही एक दिन उसने पागल का स्वाँग भी रचा। सी० आई० डी० की पूरी पलटन के रहते हुए भी आख़िर तक सरकार इस डाक-प्रबंध का पता न पा सकी। उसमें मनोहर-ऐसे कुछ किशोरों की दिलेरी और कौशल ही काम करते थे।

हाँ, सिर्फ़ कौशल का ही नहीं, यह दिलेरी का काम भी था। सबके सामने, सरे आम, गुप्त चीज़ों को लेकर यों आना-जाना क्या कम हिम्मत का काम है? फिर जब कभी 'स्वराजी डाक' के हरकारे पकड़े जाते, उनकी जो सेवा-शुश्रूषा की जाती, उसे मत पूछिए।

किंतु, कुछ दिनों तक इस काम के करने के बाद मनोहर का मन इस आँख-मिचौनी से ऊब उठा। वह खुलकर मोर्चा लेना चाहता था। और, जहाँ चाह, वहाँ राह।

जब कांग्रेस-आश्रम पर चढ़ाई करने का कार्य-क्रम ठीक हुआ। सुना गया, पुलिस इसकी भनक पाकर पहले से तैयारी कर रही है। कहा जाता था, वह बड़ी सख़्ती से काम लेगी इस बार। गोलियाँ भी चलाई जायँगी, इसकी भी अफ़वाह थी। इन बातों को सुन-सुनकर मनोहर का हृदय और भी उछलता। कभी-कभी मा-बाप का ध्यान आने पर यह समझकर कि वही अपने मा-बाप के बुढ़ापे का एकमात्र सहारा है, अतः यदि उसकी मृत्यु हुई, तो वे बेचारे तड़प-तड़पकर मर जायँगे, वह विचलित-सा होने लगता। किंतु उसी समय अनेकों शहीदों की स्मृतियाँ उसके हृदय को मज़बूत कर देतीं। वह उत्सुकता से निश्चित दिन की प्रतीक्षा करने लगा।

एक दिन सुबह-सुबह, जब पुलिसवाले झपकियों में ही थे, और शहरवाले भोर की मधुर नींद के मज़े ले रहे थे, 'स्वतंत्र भारत की जय' के शोर से दिशाएँ निनादित हो उठीं। थोड़ी देर तक शोर-गुल रहा—फिर दो-तीन बार गोलियों की धायँ-धायँ सुनाई दी—फिर सन्नाटा। इसे शांति कहना तो इस शब्द की हत्या करना होगा।

[३]

अब ज़रा हम मनोहर के गाँव चलें। वहाँ उसके मा-बाप उस भोर में उसे न पाकर बहुत चिंतित हुए। भैंस अभी तक बथान में बँधी चुकर रही थी—उसका पाड़ा एक कोने में अलग शोर कर रहा था। मनोहर भैंस को तड़के घर से बाहर करता, उसे खिलाता, फिर दुहता। आज वह कहाँ चला गया?

शायद निकट के गाँव में किसी काम से गया हो—मा-बाप ने ऐसा मान लिया, और उस पर नाराज़ होते हुए कि क्यों विना खबर दिए वह यों निकल गया, शांत हुए। किंतु, जब दोनो प्राणी विना खाए-पिए दोपहर तक राह देखते रहे, और मनोहर नहीं आया, तो उनकी चिंता बढ़ने लगी। शाम हुई। अब तो चिंता का पारावार नहीं रहा। मा से नहीं रहा गया। उस झुटपुटे के वक़्त—जिस समय निकट के दरवाज़े पर देहाती भजनीकों की जमात गा रही थी—"साँझ भए घर आए न मुरारी, कहाँ अटके बनवारी"—वह बेचारी अपने मुरारी के विरह में व्याकुल होकर फूट-फूटकर रोने लगी। बेचारे पिता की आँखों से भी आँसू बहने लगे। गाँव के कुछ लोग इस क्रंदन-ध्वनि पर आकृष्ट हो इन्हें सांत्वना देने को पहुँचे। मनोहर-ऐसा सुशील, समझदार बेटा यों एकाएक कहीं चल दे—यह बात सबको आश्चर्यजनक मालूम पड़ रही थी।

किंतु, यह समस्या भी तुरत ही हल हो गई। इसी गाँव के एक सज्जन कहीं बाहर से घर लौट रहे थे। मनोहर के

दरवाज़े पर आकर उन्होंने खबर दी कि मनोहर की उनसे रास्ते में भेंट हुई है—उसने कहा है, बाबूजी से कह देना, मैं तीर्थ-यात्रा करने जा रहा हूँ, शीघ्र लौटूँगा। इस खबर ने अनिश्चितता को कुछ हद तक दूर किया—थोड़ा आश्वासन मिला। पर आश्चर्य यही हो रहा था कि इस बालपने में ही यह वैराग्य उसमें कैसे आ गया!

पर, यह तीर्थ कौन-सा है, और वह वैराग्य कसा है—इसका पता चल गया उस दिन, जब दारोग़ाजी सदल-बल पहुँचकर गाँव को प्रकंपित और आतंकित करने लगे। उनका दल पूछ-ताछ करते सीधे मनोहर के दरवाज़े पर पहुँचा, और उसके दरवाज़े पर बँधी भैंस को क़ुर्क़ किया। मालूम हुआ, मनोहर कांग्रेस के काम में गिरफ़्तार हुआ है, और उसे छ महीने की सख्त क़ैद और ५०) जुरमाने की सज़ा हुई है, जिस जुरमाने की वसूली में यह क़ुर्क़ी की गई है। दारोग़ाजी की ज़बानी यह भी पता चला कि उस दिन शहर में भीड़ पर गोलियाँ चलीं, उसमें मनोहर भी था, और भाग्य से ही वह बच गया, घायल होकर ही रह गया!

भैंस की क़ुर्क़ी की ज़रा भी परवा उसके मा-बाप को नहीं हुई। जिस दिन से मनोहर गया, उसके पिताजी विचित्र ढंग से अन्यमनस्क बने रहते। कुछ दिनों तक तो कुछ काम ही नहीं किया; अब करते भी हैं, तो जैसे मशीन काम कर रही हो—न रस, न उत्साह। भैंस मनोहर की सबसे प्रिय यादगार थी। उसके

ख़रीदने में उसकी ज़िद काम कर गई थी, उसके पालने में उसका हाथ था, उसके दूध-दही का सबसे बड़ा भोक्ता भी वही था। मनोहर के पिता के हृदय में यह भैंस बुरी तरह कसक पैदा करती। वह मनोहर से ऐसी घुल-मिल गई थी कि उसके जाते ही खाने-पीने में उदासीनता दिखलाने लगी। वह सूख चली थी—दूध भी कम देने लगी थी। जब दारोग़ाजी ने उसे क़ुर्क़ किया, और सिपाही उसे खोलकर एक मोटा डंडा उसकी पीठ पर मार उसे ले चले, तो एक बार मनोहर के पिता को ऐसा लगा, मानो कोई कलेजा निकाले जा रहा है। किंतु, वह कलेजा नहीं, कलेजे का काँटा था। इसके निकालने में दर्द था, परंतु घाव भरने की सूरत भी यही थी। उन्होंने सोचा, जाने दो, मनोहर ही नहीं, तो यह भैंस रखकर क्या होगा? फिर भैंस की क्या परवा करते बेचारे; उन्हें तो मनोहर के लिये दूनो चिंता हुई। वह घायल हुआ, न-जाने कहाँ-कहाँ घाव लगे। वह जेल में है—न-जाने वह कैसे रक्खा जाता हो। उसी क्षण, विना किसी से कुछ कहे, वह शहर की ओर चल पड़े।

[४]

मनोहर पटना-कैंप-जेल में है।

भला, यह जेल है, या मेला? काँटों के तार के घेरे के अंदर है यह जेल, जहाँ से चारों ओर के खेतों में वसंत की बहार देखिए। न वार्डर का पहरा; न जेल-अधिकारियों की छेड़-छाड़। कहीं सभाएँ हो रही हैं, कहीं कवि-सम्मेलन

जमा है, कहीं ताश और शतरंज जुटे हैं, कहीं स्कूलों के क्लास लगे हैं। सेवा-दल का परेड, कबड्डी, आसन, कुश्ती, जिसमें जी लगे, शामिल होइए। रविवार के दिन जब मुलाक़ाती आते, एक हुजूम-सा मच जाता। साधारणतः खाना-पीना भी अच्छा ही था—उसमें भी पंद्रहवें दिन जब 'भोज' मिलता, तब का क्या कहना? यहाँ आकर मनोहर ने कुछ पढ़ना-लिखना भी शुरू किया, और दीन-दुनिया को समझने की भी चेष्टा की। मन के लायक़ उसे कुछ दोस्त भी मिल गए, जिनको लेकर वह खूब ही मस्त रहता।

इसी बीच एक रविवार को उसके पिता उससे भेंट करने को आ पहुँचे। मनोहर उनकी दशा देखकर द्रवित हो गया। उसके पिताजी हड्डियों के ढाँचा-मात्र हो रहे थे। मनोहर ने आश्वासन दिया—यहाँ उसे कोई तकलीफ़ नहीं है, गोलियाँ जब चलीं, तो भाग्य-वश वह बच गया, केवल पैर में कुछ छर्रे लगे। अब तो चार ही महीने की देर है, वह शीघ्र ही आकर मा के चरण छुएगा।

किंतु आह री उसकी मा और आह रे उसके पिता! क्या उनका ऐसा भाग्य था?

कैंप-जेल में ऊपर-ऊपर जितना आनंद था, भीतर-भीतर उसमें उतना ही खोखलापन भी था। वह बीमारियों का अड्डा बना हुआ था। डिसेंट्री का वहाँ बोलबाला था। निमोनिया वहाँ की मारक बीमारी थी। और भी 'किं रूपं किमाकारं'

बीमारियाँ वहाँ तांडव-नृत्य करती रहतीं। ऐसा भी समय आया कि कुल आबादी की एक चौथाई बीमार हो शय्या-शायी हो गई, फिर वहाँ बीमार पड़ना भी कोई साधारण बात न थी। एक बार जो बीमार पड़ा, वह समझता, अब गया। जेल में डॉक्टर भी थे, दवाइयाँ भी थीं। सुपरिंटेंडेंट अपने को बीमारों का बाप ही समझता और कहता। अपनी समझ से, दूध-फल का भी उसने यथेष्ट प्रबंध कर रक्खा था, किंतु न-जाने क्यों इतने पर भी बीमारी वहाँ एक जीवित भूत थी—एक प्राण-पीड़क आतंक।

मनोहर भी बीमार पड़ा।

पहले तो उसे डिसेंट्री की थोड़ी शिकायत हुई। अपने वार्ड में रहकर और माँड़-भात खाकर ही उसने उसे भगा देना चाहा। किंतु पीछे उसे अस्पताल जाना ही पड़ा, क्योंकि डिसेंट्री के साथ बुख़ार भी आने लगा था। अस्पताल क्या था, साधारण वार्डों को ही अस्पताल में परिणत कर लिया गया था, जहाँ बहुतों को ज़मीन में ही लेटना पड़ता। अस्पताल के नाम पर दो ख़ास कमरे भी थे, किंतु एक तो वहाँ 'सीट' कम, फिर, वे तो कुछ 'ख़ास बीमारों' के लिये रिज़र्व रक्खे जाते, अतः मनोहर को भी उन वार्डोंवाले नाम के अस्पताल में ही रहना पड़ा, और इन वार्डों के ही लायक़ उसकी दवा भी हुई। धीरे-धीरे बीमारी बढ़ती गई। कुछ स्वयंसेवकों ने, जो उसकी 'धान' को पहचान गए

थे, उसके गुणों ने जिन्हें उसका मित्र या भक्त बना लिया था, उसकी सेवा में कुछ भी उठा नहीं रक्खा; किंतु बीमारी केवल तीमारदारी से ही तो अच्छी नहीं होती।

अब हालत ऐसी हो गई कि मित्रों ने उसके जीवन की आशा खो दी। ख़ून के दस्त और अत्यधिक बुख़ार। वह प्रायः चेतना-शून्य हो जाता, और अंट-संट बकने लगता। कभी-कभी उसके मुँह से 'मा', 'बाबूजी' ऐसे शब्द भी निकलते, लेकिन ज्यादातर वह उन घटनाओं को दुहराता-सा मालूम होता, जो इधर के कुछ महीनों में उसकी ज़िंदगी में गुज़री थीं। "स्वराज्य नहीं देख सकूँगा?"—एक दिन जब थोड़ी रात बाक़ी थी, उसने टूटे-फूटे शब्दों में यह कहा, और धाड़ मारकर रोने लगा। फिर दो-चार हिचकियाँ और······

अरे, यह क्या हो गया? उसके साथी भौचक्के हो 'डॉक्टर-डॉक्टर' पुकारने लगे; लेकिन जब तक डॉक्टर आवें, तब तक तो मनोहर चल बसा था!

लोगों ने देखा, उस वार्ड से एक लाश निकाली जा रही है। इस तरह लाशों का निकलना कैंप-जेल के लिये नई बात नहीं रह गई थी। शुरू में जब कुछ लोग मरे थे, तो उनकी लाशें चौक पर रक्खी गई थीं, और जेल के एक-एक राजबंदी ने उन पर फूल चढ़ाए थे। लेकिन फूल भी चुक गए थे, उत्साह भी कुंठित हो चुका था। जहाँ दूसरे-तीसरे दिन लाशें निकलें, वहाँ श्रद्धांजलि की यह प्रथा कैसे जारी रक्खी जा सकती थी?

हाँ, मनोहर के कुछ साथी और मित्र ज़रूर उसके पीछे-पीछे जा रहे थे। उनकी आँखों से जो मोती झरते जाते थे, वे प्रभात की सूर्य-किरणों के स्पर्श से कभी लाल और कभी फ़िरोज़ी बनकर चमक उठते थे।

घोर देहात का रहनेवाला मनोहर—उसकी लाश ले जाने के लिये कोई अपना नहीं पहुँच सका। जेल के वार्डरों ने सरकार द्वारा कृपा कर दी गई तीन मन लकड़ी में मा-बाप के परम प्यारे मनोहर के शरीर को भस्म-रूप में परिणत किया, और जिसके गले में कभी फूल-माला न पड़ी थी, उसकी चिता के फूलों को गंगा मैया की गोद में अर्पित कर फिर अपनी ड्यूटी पर हाज़िर हुए। चिता के उन फूलों के साथ ही एक मामूली-सी ज़िंदगी का एक छोटा-सा इतिहास गंगा में उठनेवाले बुद्बुदों की ही तरह न-जाने कहाँ विलीन हो गया।

भि
खा
रि
न
की
था
ती

[१]

अपने एक नवागंतुक मित्र के साथ, गोलघर पर चढ़कर हाईकोर्ट और सेक्रेटेरियट के परे डूबते हुए सूरज की रंगीनियाँ, उत्तर ओर बाढ़ से उफनाई गंगा की धूमिल तरंगें, उनसे आगे सोनपुर के पुल पर शाम की गाड़ी का धुआँ उगलते आना और पूरब ओर, कदमकुआँ से कुम्हरार तक लंबा लेटे

पटना-शहर का अभी से ऊँघना देखकर. ब्रजेश लॉन के मैदान में आया। वहाँ टहलने के साथ ही राजनीतिक विषय पर कुछ बातें होने लगीं। बातें हो ही रही थीं कि एक भिखमंगा आकर 'बाबू, एक पैसा' की रट लगाने लगा। बस, फिर क्या था, ब्रजेश बरस पड़ा। अपने किंचित् राजभक्त मित्र को लक्ष्य करके कहने लगा—

"यही है आपका अँगरेज़ी राज्य, जिसकी यशोगाथा आप गाते हैं! ऐसे हट्टे-कट्टे लोग भीख माँगने पर जहाँ लाचार होते हैं; इनसे क्या काम नहीं लिया जा सकता था? आप कहेंगे, ये कामचोर होते हैं। तो, ऐसे आदमियों को जेल में रखिए, उनकी आदत छुड़ाइए, उन्हें काम सिखाइए। लेकिन, आज तो यह सरकार जेल का उपयोग देश-भक्त युवकों को वहाँ सड़ाने के लिये करती है। यहाँ की पुलिस होनहार नौजवानों के पीछे तो हाथ धोकर पड़ी रहती है, उसे फ़ुरसत कहाँ कि ऐसे लोगों की ओर वह ध्यान भी दे! ये नागरिकों को तंग करते हैं, तो करें!"

मित्र जवाब में कुछ बोलते, लेकिन उनकी एक दूसरे जान-पहचानवाले से भेंट हो गई। वह उनसे मिलने-जुलने लगे। ब्रजेश ने कहा—"माफ़ कीजिए, आज मुझे रात में भी ऑफ़िस जाना है, इसलिये फ़ुरसत लेता हूँ।" वह वहाँ से तेज़ी से क़दम उठाता हुआ चला। लॉन पार कर जब वह एक्ज़िबिशन-रोड की तिमुहानी पर पहुँचा, बड़े पीपल के पेड़ की ओर, बिजली के

खंभे से सटी, एक सूरत दिखाई दी, और उसके मुँह से भी वही—'बाबू, एक पैसा' सुनाई पड़ा। व्रजेश यह आवाज़ सुनते ही झल्ला उठा। "ये कमबख्त कहीं जान न छोड़ेंगे।" और, उसकी ओर से मुँह मोड़ तेज़ी से बढ़ने को सोच ही रहा था कि उसने देखा, वह एक स्त्री है, और उसकी गोद में एक बच्चा है !

बच्चों से व्रजेश को स्वाभाविक स्नेह था। कहीं बच्चा देखा, उसे चुमकार दिया, चुटकी बजा दी, और हो सका, तो चूम भी लिया। बच्चे को देखते ही उसका दिल उमड़ आया। झट उसने पॉकेट में हाथ डाला, और रेज़गारी का जो टुकड़ा पहले उसके हाथ में पड़ा, उसे निकालकर भिखारिन के हाथ पर रख दिया। हाथ पर रक्खे जाते ही, बिजली की रोशनी में, वह टुकड़ा चमक उठा—एक अठन्नी थी ! भिखारिन का हाथ काँप गया, उसने समझा, शायद देने में भूल हुई है। लेकिन, व्रजेश पर उसका कुछ असर न हुआ। उसने हँसते हुए कहा—"हाँ-हाँ, अठन्नी है, बच्चे के लिये लाल शरबत खरीद देना। यह इसी के भाग्य से निकल आई है।" और, वहाँ से चल दिया।

[२]

व्रजेश एक भावुक युवक है। पढ़ने में खूब तेज़ था। अँगरेज़ी में ऑनर्स लेकर बी० ए० पास किया। युनिवर्सिटी-भर में फ़र्स्ट आया। कुछ लोगों ने आगे पढ़ने की सलाह दी,

किसी ने डिपटीगिरी के लिये कोशिश करने की ओर झुकाना चाहा। किंतु उसने कुछ न सुना। वह पहले ही तय कर चुका था, ग्रेजुएट होकर संपादन-कला में अपना वक्त लगाएगा, उसने वही किया। वह एक हिंदी दैनिक का सहकारी संपादक है।

अपने कार्यालय में उसे लॉन के रास्ते से जाना होता था। कल ऑफ़िस जाते समय, दस बजे, जब वह उस तिमुहानी के नजदीक पहुँचा, उसकी आँखों ने अनायास ही उस भिखारिन की तलाश की। वह नहीं थी। उसने इस पर ज्यादा ध्यान भी नहीं दिया। इस ज़माने में भिखमंगों और भिखारिनों की क्या कमी! कहाँ तक किन पर ध्यान दिया जाय! हाँ, बात बच्चे की थी। और, जेब से संयोग-वश अठन्नी ने निकलकर उस प्रसंग में थोड़ी नवीनता ज़रूर ला दी थी।

किंतु, शाम को पाँच बजे, ऑफ़िस से लौटते समय, उसने देखा, भिखारिन पीपल की छाया में खड़ी है, और जब कोई भद्र पुरुष या स्त्री को दूर से आते देखती है, सरककर सड़क के किनारे आ जाती और पैसे माँगती है। निस्संदेह बच्चे का असर लोगों पर पड़ता है, उसे औसत से ज्यादा ही पैसे मिलते हैं। "बच्चा न हुआ, पेट पालने का साधन बन गया—कैसी करुण स्थिति!"—यह सोचते व्रजेश वहाँ पहुँचा। उसे देखते ही भिखारिन छाया से सड़क की ओर बढ़ी। जब तक उसके मुँह से कुछ निकले, व्रजेश का हाथ

उसकी जेब में था। एक इकन्नी उसके हाथ में फेंक, बच्चे की ओर सतृष्ण आँखों से देखता, वह बढ़ गया।

अब प्रायः ऑफ़िस से लौटते वह भिखारिन और उसके बच्चे को देखता, उसे पैसे देता। उसे मालूम हुआ, वह बच्चा बच्ची है। अब कभी-कभी वह भिखारिन के पास ज़रा-सा रुककर बच्ची को चुमकार भी दिया करता। एक दिन तो उसकी उँगली बच्ची के गाल की ओर बढ़ी भी; लेकिन फिर सहमकर उसने उसे खींच लिया। कहीं कोई देखेगा, तो क्या कहेगा!

बच्ची के स्नेह ने उसकी मा की ओर भी उसका ध्यान खींचा। उसने यह अनुभव किया कि भिखारिन की ओर नज़र पड़ते ही उसे आभास होता है कि भिखारिन उसके चेहरे को पढ़ने की जैसे कोशिश करती है। उसकी आँखों में अजनबीयत नहीं दिखाई देती; मालूम होता, किसी पुराने परिचित की ओर वह घूर रही है। उसकी भेष-भूषा में भी कुछ निरालापन था। उसकी साड़ी फटी थी, गंदी थी, कितने पेवंद लगे थे उसमें। लेकिन, उसकी किनारी बताती, वह कभी एक नफ़ीस, क़ीमती साड़ी रही होगी। साड़ी के भीतर जो चोली वह पहने थी, उसमें से सुनहले काम के कुछ बूटे जहाँ-तहाँ अब भी चमक जाते थे। दाहनी कलाई ख़ाली थी; किंतु बाईं में एक लाल चूड़ी थी, जो जब वह हाथ नीचे करती, तो पहुँचे से निकलने

की कोशिश करती; अगर ऊपर उठाती, तो कलाई के बहुत ही नीचे, कुहनी और कलाई के बीच के हिस्से तक, जा पहुँचती और हाथ सीधा रहने पर वह बेडौल-सी झूलती होती। चेहरे पर फुंसियों की भरमार थी, जिससे उस ओर ग़ौर से देखने की इच्छा भी नहीं होती। हाँ, उसकी आँखों से एक अजीब शर्मीलापन टपकता, जो भिखारिन के पेशे के प्रतिकूल मालूम होता था। उसके आगे के दो दाँत टूटे हुए थे, जो उसके चेहरे को ही सिर्फ़ भद्दा नहीं बनाए हुए थे, उसकी उम्र के बारे में भी काफ़ी भ्रम फैलाते थे।

ख़ुद फटेहाली में रहती हुई भी अपनी बच्ची को वह सँभाल से रखती। रोज़ बच्ची के बालों में कंघी की हुई दिखाई देती, उसकी आँखों में काजल भी रहता, एक-आध झुनझुने या गुड्डे उसके हाथ में होते, उसके कपड़े भी अच्छे होते। कभी-कभी तो शक होता, किसी शरीफ़ की बच्ची को यह चुरा लाई है। लेकिन जिस लाड़ से वह उसे लिए रहती और जिस निश्चिंतता से बच्ची उससे चिपकी रहती, ज़रा भी ग़ौर करने पर ऐसा शक तुरत काफ़ूर हो जाता।

"अजीब है यह भिखारिन!—क्या इसके पीछे कोई इतिहास है?" उसके भावुक हृदय में ऐसे सवाल उठते और अख़बार-नवीसी की पता लगाने की प्रवृत्ति उसे उत्साहित करती कि ज़रा जाँच-पड़ताल करे। लेकिन, वह लोक-

निंदा से डरता—"बदशकल हुई तो क्या, मा बनी तो क्या हुआ, आखिर जवान तो है ! जमाना बुरा है—बुराई ही की ओर तो सबकी नजर रहती है। दिल कौन देखता है, मंशा का पता कौन लगाता है ? यहाँ तो गढ़ा-सँवारा इल्जाम धरा है, जिस पर चाहा, थोप दिया।" यों सोचकर वह रह जाता। फिर, काम की भीड़ भी बनी ही रहती थी। लेकिन, इस भीड़-भड़क्के के बीच भी जब-तब भिखारिन और उसकी बच्ची की याद उसके दिल में चमक उठती। कभी-कभी उसे ऐसा लगता कि उसने ऐसी सूरत कभी देखी है। तब वह उन लड़कियों की याद करता, जिन्हें उसने निकट से देखा है, या जिन्होंने उसके दिल पर कभी असर किया था। ऐसी एक-एक सूरत की याद कर उनके चेहरे से उसके चेहरे का मिलान करने की कोशिश वह करता। लेकिन, वह ज्यादा देर तक ऐसा नहीं कर पाता; क्योंकि भिखारिन के चेहरे पर फुंसियाँ उसके दिल में अजीब घिन-सी पैदा कर देतीं। "गोली मारो इस भिखारिन को ! मैं भी अजीब झक्की आदमी हूँ, छोटी छोटी बात को तूल देकर अंबार बना लेता हूँ, और फिर उसी की भूलभुलैया में चक्कर खाता रहता हूं। दुनिया में बड़ी-बड़ी बातें हैं, राजनीति, साहित्य, कला, क्या-क्या न ! फिर इस नाचीज के···" व्याकुल होकर वह सिगरेट जलाता और उसी की फूँक में उसे उड़ा देता।

जाड़े की रात थी। उसके अखबार का विशेषांक निकलने

जा रहा था, जिसके चलते उसे रात में भी बहुत देर तक काम करना पड़ता था। आज दो बज रहे थे। जाड़े से उँगलियाँ सिकुड़ रही थीं, रह-रहकर पछवा हवा डोल जाती, जो खिड़कियों से आकर उसके कलेजे को कँपा देती। नींद के मारे उसकी आँखें भी बोझल हो रही थीं। लेकिन चाय और सिगरेट के ज़ोर पर उसकी क़लम दनादन चल रही थी। आख़िरी मैटर देकर, आख़िरी प्रूफ़ पढ़कर, मन-ही-मन अपने पेशे और अपने को कोसता वह घर की ओर चला। सड़क पर सन्नाटा था। कुहासे के कारण सड़क की रोशनी खंभे के नीचे मुश्किल से उतर पाती थी। मुँह से सिगरेट का धुआँ छोड़ता, तेज़ क़दम वह आ रहा था। कब घर पहुँचूँ, रज़ाई ओढ़कर, गरमाकर सो जाऊ—इसी की आतुरता थी।

इसी आतुरता में वह लॉन की उस तिमुहानी पर पहुँचा। इधर कई दिनों तक रात में देर से आने के कारण उसने भिखारिन को नहीं देखा था। उसे धक्-से याद आया, आह! इस जाड़े में वह और उसकी बच्ची कहाँ और कैसी होगी? वह गुड़िया-सी ख़ूबसूरत, छोटी, तुनुक लड़की! इस याद को मानो धुएँ में उड़ाने को ही उसने सिगरेट में ज़ोर का कश दिया कि उसके कानों में अचानक एक कराह की आवाज़ आई—"आह! आह! आह!" और उस 'आह' की आख़िरी कड़ी की तरह बच्चे की चीख़! सुनते ही ब्रजेश मुड़ गया—मानो, वह आदमी नहीं, कल हो। मुड़कर उसने अपने टॉर्च की

रोशनी उस ओर, पीपल के पेड़ की जड़ें जहाँ थीं, फेंकी। कोई चीज़ दिखाई नहीं पड़ी। वह कुछ सोचने ही जा रहा था कि फिर कराह! हाँ, जड़ों के ही नज़दीक से तो! वह, फिर कल के पुतले ही की तरह, उस ओर खिंचता हुआ-सा, बढ़ा। देखा, जड़ों की उस ओर, शायद इसलिये कि सड़क पर चलने-वालों की नज़र न पड़े, दो मोटी-मोटी उभड़ी जड़ों के बीच एक फटा टाट ओढ़े एक स्त्री पड़ी है, और बग़ल में ही बच्चा है। हाँ, बच्ची, जो टाट से बाहर हो गई है, और जाड़ा लगने से चीख़ पड़ी थी। टॉर्च की रोशनी पड़ते ही बच्ची ने आँखें खोल दीं, और फिर चीख़ उठी। चीख़ सुन भिखारिन टाट के अंदर सुगबुगाई, और फिर आह आह करने लगी।

व्रजेश बड़े असमंजस में पड़ गया। बच्ची चीख़ रही है। भिखारिन कराह रही है। वह खड़ा है! वह क्या करे! कोई देखे, तो क्या सोचे! कुछ सोचे; लेकिन वह क्या करे—यह भी तो वह नहीं सोच पाता! बच्ची को उठा ले? भिखारिन को देह पकड़कर जगा दे? इसे क्या हुआ है, जो इस तरह बच्ची को छोड़ बेहोश-सी कराह रही है? जो दिन में उसको हमेशा कलेजे से चिपकाए रहती, वही इस रात में बच्ची को यों अनाथ छोड़े हुए है! कोई जानवर ही उठा ले जाय! जब होश में आएगी, ज़िंदा बचेगी? इसी तरह व्रजेश सोच ही रहा था, और बच्ची चीख़े जा रही थी कि उसने देखा, भिखारिन फिर सुगबुगाई, उसके हाथ टाट के बाहर निकले,

टटोलने-से लगे; किंतु कुछ न पाकर फिर जड़-से, निर्जीव-से हो रहे ! 'आह, आह' भी बढ़ने लगी !

ब्रजेश से देखा नहीं गया, उसने बच्ची को उसके हाथ के नजदीक ला दिया। झट उसे टाट के नीचे घसीटकर भिखारिन ने छाती से लगा लिया। बच्ची चुप हो रही। अब ब्रजेश क्या करे ! क्या चल दे ? किंतु, भिखारिन की यह कराह ! हिम्मत करके उसने भिखारिन के मुँह पर से टाट हटाया। टॉर्च की रोशनी में उसने एक बार आँखें खोलन की कोशिश की। पपनियाँ हिलीं, पलकों में सुगबुगाहट देखी गई; किंतु आँखें नहीं खुल सकीं। क्या खुलें ! उसके समूचे चेहरे पर बड़े-बड़े फफोले हैं। जो फुंसियाँ थीं, वे फफोले बन गए हैं। समूचा चेहरा लाल अंगारा बन रहा है, और नाक से जोरों की साँस चल रही है। विस्मय-विमुग्ध ब्रजेश घूर-घूरकर देख ही रहा था कि भिखारिन के होंठ हिल उठे, और बड़ी मुश्किल से एक क्षीण शब्द-मात्र निकला—पानी !

'पानी ? पानी इस दो बजे रात को कहाँ से लाया जाय ? सड़क के किनारे के नल में तो पानी नहीं होगा। निकट के किसी घर से उसका परिचय नहीं। वह बेतहाशा अपने ऑफ़िस की ओर दौड़ा। ऑफ़िस के चपरासी को जगाया, उससे लोटा-पानी लेकर आप तो तिमुहानी की ओर लौटा, और उससे कहा, स्टेशन जाओ, एक फ़िटन, टमटम, रिक्शा, जो कुछ मिले, लेकर ल्यॉन को उस तिमुहानी पर आओ।

उसी दो बजे रात को भिखारिन और उसकी बच्ची को लिए वह बड़े अस्पताल में पहुँचा। ड्यूटी पर का डॉक्टर आराम-कुरसी पर ऊँघ रहा था। ब्रजेश ने अपने परिचय का कार्ड उसे दिखलाया। अपने जिस पेशे को उसने थोड़ी देर पहले कोसा था, उसका प्रभाव देखा। अखबारवालों से कौन नहीं डरता ? डॉक्टर ने बड़ी तवज्जह से रोगी को देखा; लेकिन देखते ही उसके मुख की भाव-भंगिमा बदल गई। फिर उसके कपड़े लत्ते को ग़ौर से देख उसने ब्रजेश से कहा—"माफ़ कीजिए, मैं पूछूँ, यह कौन है ?"

"क्यों क्या बात है ?"

डॉक्टर ने ज़रा सिर खुजाया, फिर कहा—"यही, शरीफ़ घर में...हाँ, शरीफ़ घर में...मैंने कहा, यह...बड़े बुरे टाइप की बीमारी......क्या कहीं सड़क पर थी ?"

"नहीं-नहीं, यह मेरी नौकरानी.....उसकी गोतिन लगती है।"

"कमबख्त कहाँ से यह जवाल लगा लाई ?"—कहकर डॉक्टर नर्स को बुलाने का आयोजन करने लगा। "धन्यवाद ! फिर कल मिलूँगा।"—कहकर ब्रजेश वहाँ से घर की ओर चला। अखबार का चपरासी मन-ही-मन यह सोचता कि ब्रजेश बाबू भी क्या सनकी हैं, दफ्तर की ओर उसी फिटन पर चला। दोनों तरफ़ का किराया ब्रजेश दे चुका था।

[३]

नींद का माता होने पर भी ब्रजेश को घर पर जल्द नींद नहीं आई। फलतः वह देर से जगा। ऑफ़िस का वक्त हो रहा था, जल्द-जल्द नहा-धो, कुछ जल-पान कर वह घर से चला। किंतु उसके पैर ऑफ़िस की ओर नहीं बढ़े। रास्ते में उसने एक डब्बा बिस्कुट का ख़रीदा। एक रबर का खिलौना लिया, और अस्पताल के ज़नाना वार्ड में पहुँचा। बच्ची से ही उसने भिखारिन को पहचाना, जो लाल कंबल से सिर से पैर तक ढँकी थी। कराह और उसाँस सुनाई पड़ती थी। उसके सिरहाने टँगे चार्ट को पढ़ने लगा। बुख़ार की रेखा १०५ तक खिंची हुई देखकर वह काँप उठा। ब्रजेश इस समय साहबी लिबास में था—फिर, नौजवान। छोकड़ी नर्स उसे देखते ही उसके नज़दीक आ गई। जब तक वह कुछ बोले, उसके हाथ में बिस्कुट का डब्बा देते हुए ब्रजेश ने कहा—"यह बच्ची के लिये है।" और, खिलौना बच्ची के हाथ में दे, पहली बार उसकी उँगली पकड़कर उसने नज़दीक से पुचकारा। बच्ची ललक पड़ी, उसके होंठ बरबस उसके गालों से जा लगे! बच्ची के गालों की गरमी और चिकनापन का एहसास अपने होठों पर और भिखारिन के बुख़ार की ज्वाला अपने दिमाग़ में लिए वह जल्द अपने ऑफ़िस को भागा।

ऑफ़िस से छुट्टी पाते ही ब्रजेश अस्पताल आ जाता। भिखारिन की सेवा-शुश्रषा करता; बच्ची को दुलारता,

चुमकारता। उसकी इस प्रकार देख-भाल के कारण डॉक्टर भी भिखारिन पर ज्यादा ध्यान देते। वह धीरे-धीरे अच्छी हो रही है, ऐसा लगता था। भिखारिन वार्ड में ब्रजेश की मेडसर्वेंट करके प्रसिद्ध थी। इस मेडसर्वेंट पर इतनी मेहरबानी, उसके लिये इतनी जाँफ़िसानी देखकर मनचली नर्सों ने कुछ अपनी ही कहानियाँ बना ली थीं। वे जब-तब ब्रजेश से चुहलें भी कर देतीं। ब्रजेश कभी झुँझलाता, कभी मुस्किरा देता। एक दिन एक नर्स ने कहा—'ब्रजेश बाबू, यह बच्ची ठीक आप ही-सी लगती है!' ब्रजेश ने पहले इसका मर्म नहीं समझा, बोला—"हाँ, ख़ूबसूरत तो बहुत है!" लेकिन जब उसने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—लेकिन हरजाई निकली यह; यह आपकी ही मेहरबानी है! स्पष्ट ही यह इशारा उसकी ओर था, तब वह क्रोध से आग-बबूला हो चला, और उसे डाँटा कि ज्यादा बढ़ोगी, तो मैं स्टाफ़ से रिपोर्ट कर दूँगा। इस पर कनखियों से ही हँसती वह चलती बनी, मानो यह ताना देती—"सच्ची बात इसी तरह खलती है; मैं तुम नौजवानों की रग-रग पहचानती हूँ, बहुतों को देखा है मैंने!"

कुछ दिन बीते। उस दिन भिखारिन की हालत अच्छी थी। फफोले सूखते-से दिखाई देते थे, बुख़ार भी कम था। नर्स ने स्पंज करके उसे नए धुले कपड़े पहना दिए थे, जिन्हें ब्रजेश ने ही ख़रीदकर ला दिया था। बालों में कंघी कर दी गई थी। इन फोड़ों के बावजूद, वह आज जैसी ख़ूबसूरत

मालूम होती थी, ब्रजेश ने उसे वैसी कभी नहीं पाया था। जब वह उसके निकट खड़ा था, उसने ब्रजेश से बैठने का इशारा किया। यह पहली बार थी, जब उसने इस तरह आग्रह दिखलाया था। उसके बैठने के बाद वह थोड़ी देर चुप रही, फिर बोली—

"बिजू बाबू!"

'बिजू बाबू'—इस नाम से तो उसे पटने में कोई नहीं पुकारता, 'बिरजी बाबू', 'बिरज बाबू'—यहाँ ये ही अपभ्रंश नाम थे उसके। यह तो उसका बिलकुल घरेलू पुकार का नाम है। इस प्रकार के नाम से संबोधित होने से वह आश्चर्य-चकित हुआ। भिखारिन की ओर उसने आँखें गड़ाकर देखना शुरू किया!

"बिजू बाबू, आप मुझे भूल गए? मैं सुगिया हूँ।"

झट उसके सामने एक तस्वीर खिंच गई, अपनी बहन की ससुराल में देखी उनकी नौकरानी की बेटी की तस्वीर! बचपन से जब उसने बहन के यहाँ जाना शुरू किया, यह लड़की उसकी आँखों के सामने आने लगी। ब्रजेश भी बढ़ा, वह भी बढ़ी। आखिरी बार जब उसने देखा था, वह किशोरी हो चली थी। नौकरानी की बेटी; किंतु सुंदरी, जैसे राजरानी हो! यों तो उसके अंग-अंग में सौंदर्य कूट-कूटकर भरा था; किंतु उसकी नाक तो अपूर्व मनोहर थी। देहात की सौंदर्य-पारखी आँखों ने इसी नाक को लक्ष्य कर, मानो उसका नाम

सुगिया रख दिया था। सुगिया—सुग्गे-सी उभरी, पतली, नुकीली, रंगीन, सुंदर हो नासिका जिसकी।

उसकी विधवा मा अपनी इकलौती बेटी को ख़ूब सज-धज कर रखती। जब ब्रजेश की बहन की ननद पढ़ने लगी, यह लड़की भी उसके साथ उसका बस्ता लिए स्कूल जाने लगी। किंतु, कुछ ही दिनों में इसने पढ़ने में उसे मात किया। वह गाँव के अपर स्कूल की पढ़ाई ख़त्म कर चुकी थी। "नौकरानी की इस पढ़ी-लिखी बेटी के लिये दूल्हा कहाँ मिलेगा?"—एक बार ब्रजेश ने हँसते हुए अपनी बहन से पूछा था। जब तक वह बोले, यह प्रगल्भ किशोरी बोल उठी—"आप ही ले चलिए बिजू बाबू, कम-से-कम सेवा तो अच्छी कर सकूँगी, दासी की बेटी ठहरी।" अपने पर की गई इस दिल्लगी से ब्रजेश की बोलती बंद हो गई थी।

लेकिन, आज इस सुगिया और उस सुगिया में कितना अंतर है! समूचे चेहरे पर फोड़े; नाक इन फोड़ों से चिपटी-सी हो चली है। अगले दो दाँतों ने टूटकर सौंदर्य ही नहीं, स्वर में भी अंतर ला दिया है। उफ़्, आदमी कितना बदल सकता है?

कुछ देर भिखारिन चुप रही, ब्रजेश भी दिमाग़ी उलझन में पड़ा था। उसने फिर कहना शुरू किया—

"मैं बचूँगी नहीं बिजू बाबू! मेरा भाग्य, आख़िरी वक़्त आप मिल गए; नहीं तो यह बोझ कलेजे पर लेकर ही

मरती !"—इस छोटी भूमिका के साथ उसने अपनी कहानी ब्रजेश से कही। संक्षेप में वह यों है—

उसी गाँव में एक नौजवान था। मा-बाप का इकलौता। बड़ा सुशील, बड़ा नेक। जहाँ गाँव के और नौजवान सुगिया—इस दासी-पुत्री—पर डोरे डालते, फँसाने की कोशिशें करते, ललचाते, डराते, वहाँ वह सुगिया की ओर आँखें भी उठाता, तो सकुचाते, शरमाते। वह हिंदू-युनिवर्सिटी में पढ़ता था। उस साल बी० ए० का इम्तिहान देकर वह होली के पहले ही गाँव में आ गया, और गर्मियों तक रहा। सुगिया ने पाया, यों तो वह उसके सामने झेंपता है; किंतु जब कभी आँखें अचानक चार होती हैं, वह उसकी ओर ललचाई आँखों से देखता ही रह जाता है। कुछ दिनों बाद सुगिया ने अपने मन में भी कुछ अजीब कशिश महसूस की। पहले इस आकर्षण का मोड़ने की उसने कोशिश की; किंतु नाकामयाब रही। वे दिन भी आए, जब एक बार किसी-न किसी बहाने, विना उसे देखे, उसे चैन नहीं पड़ता। उसे क्या हो गया है, वह कहाँ फिसली जा रही है, वह समझ नहीं पाती। कोशिश दोनो ओर से थी। अब वह नौजवान भी जब-तब ब्रजेशजी की बहन के घर की ओर आता, और अपनी स्वाभाविक शरमाई, सकुचाई आँखों से उसे देख जाता। एक दिन एक लड़की सुगिया को एक ख़त दे गई—वह उस नौजवान का था। अब, मानो प्रेम को ज़बान मिल

गई। दोनो ओर से हृदय का उड़ेलना शुरू हुआ, जो अंत में आत्मसमर्पण तक जा पहुँचा।

हाँ, आत्मसमर्पण! युवक ने प्रस्ताव किया कि अगर सुगिया राज़ी हो, तो वह उसे अर्द्धांगिनी बनाने को तैयार है! अर्द्धांगिनी—दासी-पुत्री और बाबू की अर्द्धांगिनी? लेकिन, वह दुनिया को दिखा देना चाहता है कि यह असंभव नहीं है। प्रेम क्यों कोई बंधन माने! फिर, पुराना ज़माना लद गया। माना, उसके बाबूजी सिर पीटेंगे, मा चिल्ल-पों मचाएगी, और समाज के लोग ज़मीन-आसमान एक करेंगे। वह उस समाज की परवा नहीं करता, जो चुप-चोरी किसी ग़रीब लड़की का सतीत्व लूटना तो बरदाश्त कर लेता है, लेकिन खुले आम उसके पाणिग्रहण पर हाय-तोबा मचाने लगता है। इस सड़े, दुर्गंध और गंदगी भरे समाज के सिर पर ठोकर लगाना वह अपना कर्तव्य समझता है। रह गए मा-बाप। सो, वह इकलौता बेटा ठहरा—कुछ दिनों तक नाराज़ रहकर फिर वे मान ही जायँगे। युवक के इस उच्च आदर्श पर वह कैसे न हामी भरती। हाँ, उसे भी अपनी मा की चिंता थी; सो, संयोग-वश वह छुट्टी के बाद कॉलेज जाकर फिर जब तक विजया की छुट्टी में लौटा, तब तक वह चल बसी थी—मानो, अपनी प्यारी बेटी के लिये उसने रास्ता साफ़ कर दिया!

विजया की छुट्टी पूरी होते-न-होते गाँव में शोर मच गया, सुकुमार ने (हाँ, उस नौजवान का यही नाम था) सुगिया

को उड़ा लिया, दोनो एक रात कहीं निकल गए। कहाँ निकल गए, इसमें भी ज्यादा सरपच्ची नहीं करनी पड़ी। काशी जाकर सुकुमार ने वहाँ के आर्यसमाज-भवन में सुगिया से बाजाब्ता शादी की। अखबारों में एक छोटा-सा प्रशंसात्मक संवाद छपा। सुकुमार ने अपने बाप को उस संवाद की कटिंग के साथ खत भेज दिया। बाप आग-बबूला। उन्होंने लिख दिया—"मैंने मान लिया, मैं निपूता हूँ। तुमने मेरी नाक काट ली। तुम मेरे कोई नहीं होते हो।" सुकुमार इसके लिये तैयार ही था। इस बार काफ़ी पैसे मा से झटक लाया था। इन्हीं पैसों से युनिवर्सिटी के नज़दीक के सुंदरपुर में एक मकान लेकर रहने लगा। पढ़ाई भी चलने लगी।

सुगिया किस आस्था से सुकुमार की सेवा करती! छोटा-सा मकान था, एक दाई रख ली गई थी। मकान को साफ़-सुथरा सज-धज कर वह रखती। अपने हाथ से जल पान तैयार करती, अपने हाथ से रसोई तैयार कर परोसती, अपने हाथ से पान लगाकर देती। जब वह कॉलेज जाने लगता, खिड़की से तब तक देखती रहती, जब तक आँखों से ओझल नहीं हो जाता। लौटने के वक्त फिर उसकी आँखें खिड़की की ओर। इनकी क्षति-पूर्ति के रूप में दोनो जब शाम को एक साथ टहलने निकलते या सिनेमा जाते, तो सुगिया अनुभव करती, उसके पर हो चले हैं, वह स्वर्ग की ओर उड़ी जा रही है, उसका जीवन सार्थक हो गया।

बाप का सत्याग्रह संगीन निकला। ख़ुद तो ख़त तक लिखना छोड़ ही दिया, सुकुमार की मा से भी कह दिया, बेटे से नाता रक्खोगी, तो मैं आत्महत्या कर लूँगा! वह बेचारी क्या करे! कई रिश्तेमंद सुकुमार के पास पहुँचे, तुमने यह क्या किया? ख़ैर, बाबुओं के लिये ख़ानगी रखना नई बात नहीं। यह भी रहेगी, लेकिन दूसरी शादी कर लो। बाप को संतोष हो जायगा। किंतु उसने किसी की नहीं सुनी। प्रेम के ज्वार के दिन थे।

जब बाप के आर्थिक असहयोग के चलते ख़र्च का चलना मुश्किल हुआ, सुकुमार ने कहा, कहीं ट्यूशन कर लेता हूँ। लेकिन, सुगिया ने तब अपनी मा की धरोहर से काम लेना शुरू किया। रुपए थे, गहने थे। "आप पढ़ना जारी रखिए, मैं इन्हीं से काम चलाऊँगी।" उसने दाई से पार्ट-टाइम काम लेना शुरू किया, वह सिर्फ़ बाज़ार से सौदा ला देती, गंगा से पानी ला देती। बर्तन माँजना, रसोई बनाना, झाड़ू देना—सब काम वह ख़ुद कर लेती। उसकी यह सेवा-भावना सुकुमार के हृदय पर भी गहरी छाप डालती। वह उसे इस तरह खटते देख उसाँसें भरता, कहता—"कहाँ से मैंने तुम्हें दलदल में घसीटा!" सुगिया सब अपराध अपने पर लेकर, हँसकर बात टाल देती, और कहती, आप पढ़ लीजिए, हमारे भी अच्छे दिन आएँगे।

यह तो हुई ज्वार की बात। भाटे के दिन भी आए।

सुगिया का वह गुलाबी चेहरा शहर की धूल-धुआँ-भरी आब-हवा में पहले तो पीला पड़ा; अब चूल्हे की गरमी उस पर स्याही पोत रही थी। एक दिन धड़कते हुए हृदय से उसने सुकुमार से यह भी बताया कि उसे लगता है, शायद वह गर्भवती हो चली है। वह धीरे-धीरे देख रही थी, इन बातों का असर सुकुमार पर अजीब पड़ रहा है। क्या वह सौंदर्य का ही लोभी था? क्या वह बाप बनने की जिम्मेवारी से घबराता है? सुगिया इस तरह तर्क वितर्क करती। इधर उसने यह भी देखा कि सुकुमार ने कुछ नए दोस्त कर लिए हैं। वे कॉलेज के ही लड़के थे; लेकिन उनके चेहरे किसी तरह शोहदे-से थे। अब कॉलेज से ही वह कहीं बाहर रह जाता, और रात को बड़ी देर में लौटता। एक बार उसने उसके मुँह में अजीब गंध पाई।—"यह सब क्या हो रहा है? आप कहाँ इतनी देर रह जाते हैं? क्या पढ़िए-लिखिएगा नहीं? मुझ पर कलंक लगाइएगा? मेरी जिंदगी क्या हमेशा दुःखमय ही कटेगी?"—इस तरह कहते-कहते वह रो पड़ी। मालूम होता, उसका हृदय भी थोड़ी देर के लिये पसीज जाता। कहता, अब ऐसा कल से नहीं होगा। लेकिन हर कल नए कल की ही बात बताता।

एक दिन शाम को वह खाना तैयार कर हाथ मुँह धोने जा रही थी कि देखा, तीन चार साथियों के साथ सुकुमार घर में घुस रहा है। सब हल्ला कर रहे हैं, सबके पैर लड़-

खड़ा रहे हैं, सबके चेहरे फक और आँखें लाल हैं। सुगिया घबराई। यह क्या हो गया? क्या कुछ ख़ुराफ़ात करेंगे?

हाँ, ख़ुराफ़ात के ही लिये तो ये आए थे। इस मंडली का जो सरगना था, वह लड़खड़ाता सुगिया की ओर बढ़ा। सुगिया ज़रा सख़्त हुई। सुकुमार को डाँटा—"ये किन आवारों को घर में ले आए हो?'

"हम आवारेगर्द, तू……तू सती-शिरोमणि……सीता-सावित्री—हा-हा-हा……नौकरानी की छोकड़ी……हमारे दोस्त से घर छुड़ाया, मा-बाप छुड़ाया……बदज़ात कुलटा……"

"यह क्या हो रहा है, आप क्या चाहते हैं?"—सुगिया सुकुमार की ओर कड़ककर बोली।

लेकिन, तब तक वह आवारों का सरताज तो उसके नज़दीक आ चुका था। उसने हाथ बढ़ाया, सब ठठाकर हँस पड़े। सुगिया से बरदाश्त नहीं हो सका। रोटी का बेलन वहीं पड़ा हुआ था। उठा लिया, और उत्तेजना में उसके सिर पर दे मारा। वह गिर पड़ा, सिर फट गया, ख़ून बह रहा था! "ख़ून"—एक चिल्ला उठा। उसी समय दूसरे ने पीछे से उसे धक्का दिया। वह मुँह के बल गिर पड़ी!

ब्रजेश ने देखा, कहानी के इस अंश तक आते-आते भिखारिन की आँखों में आँसू आ चले हैं। हिचकियाँ बँध गई हैं। उसके बाद उसने अपने अगले दो दाँतों की ओर इशारा

किया ! –"उसी दिन के वरदान हैं ये—बिजू बाबू ! अब आगे न पूछिए। किस तरह होश आने पर गंगा में डूबने चली; किस तरह पेट के भीतर की एक आत्मा चीख उठी. डूब भी नहीं सकी; किस तरह अपने चेहरे को अपने हाथ से खसोट-खसोटकर बदरूप बनाया, जिसमें फिर किसी मनचले के फेर में न पड़ जाऊँ, किस तरह भीख माँगती हुई चली; किसी तरह थोड़े दिनों बाद उस कमबख़्त की ये दो थातियाँ प्रकट हुईं —एक, यह बीमारी; दूसरी यह बच्ची; इन बातों को न सुनिए, सो ही अच्छा। एक को तो लिए जा रही हूँ, 'उनकी' अनुपम देन को कैसे छोड़ूँ? किंतु एक के लिये चिंता थी। अब मैं उससे भी निश्चिंत हूँ। याद है, एक बार मैंने आपसे कहा था, मुझे ले चलिए, सेवा तो करूँगी ! मुझसे आपकी सेवा न बन पड़ी। हाँ, सेवा ली, और थाती दिए जा रही हूँ ! यह भी बदा था ...।"

हिचकियों का ताँता बँध गया। उसने कंबल में मुँह छिपा लिया। व्रजेश की आँखें भी नम थीं। उधर नर्स मुस्किरा रही थी ! वह शोख़, चंचल नर्स ! उसने समझा, यह प्रेम का मान-मनावन हो रहा है !

[४]

भिखारिन की बात सच निकली। एक सप्ताह के अंदर-अंदर वह चल बसी। आख़िरी दिनों में वह एक अजीब

इच्छा प्रकट करती। वह चाहती कि सुकुमार को वह एक बार देख ले।—"भूल जाओ उसे; उसे उलाहना देकर भी क्या करोगी ?'—एक बार ब्रजेश ने बड़े मुलायम शब्दों में कहा। वह फूट फूट कर रो पड़ी—"बिजू बाबू, उलाहना देकर क्या करूँगी ? इसकी इच्छा अब इस चलते वक्त नहीं रह गई। लेकिन न-जाने क्यों हृदय हाहाकार करता है, मन होता है, एक बार उन्हें भरनजर देख लेती, और आखें सदा के लिये मुँद जातीं।"

एक दिन एक घटना हो गई। वह बहुत ही दुब्ली हो चली थी। उसके हाथ-पैर सूखकर काँटा हो चले थे। वह किसी काम से हाथ इधर-उधर कर रही थी कि अचानक उसके बाएँ हाथ की अकेली लाल चूड़ी खिसककर ज़मीन पर गिर पड़ी। पलँग से उसके गिरते ही एक चन्न-सी आवाज़ हुई, फिर वह टूक-टूक हो गई। चूड़ी गिरते ही वह अजीब अप्रतिहत हो गई। फूटने की आवाज़ सुनकर तो वह फूट-फूटकर रोने लगी, और उसके आँसू तब तक नहीं सूखे, जब तक ब्रजेश ने शाम को एक दूसरी चूड़ी नहीं ला दी। वह तब तक खा-पी भी नहीं सकी थी। नर्सों ने बहुत समझाया, लेकिन वह तो रोए जा रही थी। जब ऑफिस से शाम को ब्रजेश आया, उसे सब बातें मालूम हुईं, और एक नई, उसी रंग की चूड़ी वह ख़रीद लाया।

चूड़ी पहनकर जैसे वह निहाल हो गई। चेहरे पर प्रसन्नता

की आभा लिए, किंतु आँखों से आँसू की नई निर्झरिणी बहाते उसने व्रजेश से कहा—"मैं दासी-पुत्री ठहरी, बिजू बाबू! मेरी क़ौम में सधवा-विधवा, दोनो ही नई शादी कर सकती हैं। लेकिन, न-जाने क्यों, शुरू से ही मेरे मन में इन बातों से घृणा रही। ख़ासकर आपकी बहन की पति-परायणता ने मुझे बहुत ही प्रभावित किया। उनके श्रीचरणों में मेरा प्रणाम कह दीजिएगा। कह दीजिएगा, सुगिया निकल गई, कलंकिनी बनी; लेकिन उसने अपनी टेक न छोड़ी!" फिर कुछ देर ठहरकर उसने कहा—"बिजू बाबू, मेरी एक बिनती है। मरने पर भी इस चूड़ी के साथ ही मुझे जला दीजिएगा! मेरे लिये यह सिर्फ़ काच की रेखा नहीं, धर्मबंधन है। यह साथ ही जाय!" कहते-कहते उसका गला रुँध गया।

अब व्रजेश से भी नहीं रहा गया। उसकी आँखों की अश्रु-धारा उसके रूमाल को भिगोने लगी। वह सोचता—"हाय रे नारी का हृदय! जिसने इतनी तकलीफ़ दी, इस तरह घुला-घुलाकर मारा, उसके लिये भी इतना प्रेम संचित है। सुकुमार, सुकुमार! आज तुम यहाँ होते! देखते, तुमने किस रत्न की उपेक्षा की! हाथ आया रत्न घूरे पर फेक दिया—आह!"

जिस दिन मरी, उस दिन कहा—"उनसे कभी भेंट हो, तो कहिएगा, मेरी गत की, अच्छा किया, भगवान् उनका भला करें। लेकिन, अपनी इस बच्ची को तो...। हाय, मेरी बिटिया .....!'

व्रजेश ने अश्रु-सिक्त नेत्रों से ही उसे विश्वास दिलाया, वह बच्ची के लिये चिंता न करे। इसे लालन-पालन के लिये किसी सुकुमार की शरण लेने की ज़रूरत न होगी "इसका ज़िम्मा मेरा – दुनिया में कोई वादेवाला भी मर्द होता है, सुगिया !" व्रजेश के शब्दों में दृढ़ता थी।

मरते समय तक उसका चेहरा अजीब विकृत हो चला था। समूचा चेहरा अजीब फूल गया था। आँखें नहीं खुलती थीं। मुश्किल से साँस ले पाती थी। निस्संदेह वह मर्मांतक पीड़ा में थी, लेकिन वह मुश्किल से कभी कराहती, मानो अपनी इंद्रियों पर उसने क़ब्ज़ा कर लिया हो। आख़िर— आख़िर तक उसे होश रहा। व्रजेश को उसकी इस शांति पर आश्चर्य होता, ऐसे दृढ़ मनोबल के लिये काफ़ी उच्च आत्मा चाहिए। भिखारिन ने मानो मरते समय दिखला दिया, 'गुदड़ी में लाल' सिर्फ़ कहावत की बात नहीं है।

अपने चंद समर्थकों को लेकर, अपने कंधे पर उसकी अरथी ढोकर, व्रजेश ने गंगा के उस पार, साफ़-सफ़ेद रेती पर उसका अंतिम संस्कार किया—मानो, वह उसकी कोई निकट संबंधिनी रही हो।

और, जिस कंधे पर एक दिन उसकी अरथी थी, अब हर दिन उसी कंधे पर, शाम-के-शाम, लोग एक बच्ची को देखते हैं। वह अपने ऑफ़िस से लौटकर आता, जल-पान करता, फिर बच्ची को सज-सजाकर अपने कंधे पर बिठाता, और लॉन

की ओर चल देता। वहाँ वह कभी उसे उगली पकड़कर चलना सिखाता, कभी गोद में लेता, कभी हाथों पर हवा में उछालता। जब कोई जान-पहचान का पूछता—"यह आपकी कौन होती है, ब्रजेश बाबू?" तो ब्रजेश जवाब देता—"थाती!"

"थाती? यानी?"

"यानी धरोहर!"

"यह तो आप पहेली बुझा रहे हैं!"

"हाँ पहेली ही है; और समझनेवाले की मौत!"

पूछनेवाला उसका मुँह ताकते रह जाता, वह उन पर मुस्किराता रहता।

ब्रजेश ने उसका नाम रक्खा—नीलिमा!

एक दिन एक मित्र ने कहा—"ऐसी खूबसूरत, गोरी-चिट्टी लड़की का नाम आपने 'नीलिमा' क्या रख दिया, ब्रजेश बाबू! कम-से-कम 'नीलम' ही रक्खे होते!"

"नीलिमा—मैं तो उसका नाम कालिमा रखने जा रहा था, किंतु ज़रा इस लड़की पर मुरौवत आ गई! हाँ, कालिमा—क्योंकि यह बताती है, आपके समाज के चंदन से धोए मुख-चंद्र पर कलंक की कालिमा कहाँ है? गोरी लड़की? यह गोरी लड़की नहीं है, आपके समाज की काली पताका है। और, पताका जितनी ऊँची फहरे, उतना अच्छा।"

इतना कह उसने उसे कंधे पर बिठा लिया; और शान से घर की ओर चल पड़ा।

व ह चो र था

[१]

जेल में पहुँचकर लक्ष्मी बाबू ने अनुभव किया, जेल वह भयानक चीज़ नहीं है, जिसकी कल्पना से ही वह घबरा उठते थे। उनके हित-मित्र उदास हो जाते थे, और उनकी श्रीमती आँखों में आँसू लाकर उसाँसें भरने लगती थीं। गांधी बाबा के प्रताप से जहाँ देश-भक्ति आसान चीज़ बन गई है—यही, खादी पहनिए, चंदे में कुछ पैसे दिया कीजिए, हो सके, तो जब-तब चर्खे को गुनगुना लीजिए, और खुदा-न-ख्वास्ता, जब कभी मौक़ा आ जाय, तो जेल की गंगा में हल्की-फुल्की एक-दो डुबकियाँ लगा लीजिए। उसी तरह, उनके पुण्य-बल से,

यह जेल भी पुरानी जेल नहीं रह गई है, जहाँ पहले कोड़े बरसते थे, बेड़ियाँ खनकती थीं, खाने को पेनल डायट और रहने-सोने को काल-कोठरी मिलती थी। अरे यहाँ की तो अब दुनिया ही निराली है। माना, लक्ष्मी बाबू का वह बड़ा बँगला, वह ड्राइंग रूम, वे क़ालीन और सोफ़े और वे बावर्ची, वे चाँदी की तश्तरियाँ यहाँ नहीं हैं। किंतु जो कुछ है, शरीफ़ों की गुज़र के लिये काफ़ी है। वह ए० डिवीज़न के राजनीतिक क़ैदी हैं। सरकार ने अपना इंतज़ाम तो किया ही है, उसने इजाज़त भी दे रक्खी है। आप अपने खाने-पीने, रहने सहने में और जो कुछ इज़ाफ़ा कर सकते हैं, करें।

लक्ष्मी बाबू को रहने के लिये जो कमरा मिला, उसे उन्होंने थोड़े ही दिनों में ऐसा सजा लिया कि वह उनका 'मिनिएचर' बँगला बन चुका था। जो रसोइया था, वह धीरे-धीरे बावर्ची बना जा रहा था, और जो पनिया मिला था, उसे तो उन्होंने 'बेरा' कहकर पुकारना भी शुरू कर दिया था। कभी कभी वह सोचते, काश, ये जेलवाले एक दिन मेरी श्रीमती को भीतर आकर मिलने की इजाज़त देते, तब उसे दिखा देता, जेल के बारे में उसकी धारणा कितनी ग़लत है। वह कमबख़्त जब-जब मुलाक़ात करने को आती है, मुँह लटकाए, आँसू बहाती—सारा मज़ा ही किरकिरा हो जाता है। जेल के फाटक के मोटे-मोटे लोहे के छड़, बड़े-बड़े ताले और संतरियों की किरचों से ही इसके भीतर का भी अंदाज़ा

लगाती है !—वह क्या समझे, बैतरनी के बाद ही स्वर्ग की बस्ती है।

जेल में रहने-सहने का इंतज़ाम पूरा कर आपका ध्यान पढ़ने-लिखने की ओर गया। यहाँ पढ़ने की एक अजीब बीमारी फैली हुई थी, और वह बीमारी संक्रामक थी। उन्हें भी लगनी थी, लगी। फिर, वह अपने को किसी बात में किसी से पीछे क्यों रक्खें ? सब पढ़ रहे हैं, वह भी पढ़ेंगे। कुछ पढ़क्कू साथियों से मिलकर उन्होंने किताबों की एक लिस्ट तैयार की, और थोड़े ही दिनों में उनका सेल्फ़ सुनहली जिल्दों से जगमगा उठा।

यों पढ़ने में कॉलेज के दिनों में भी उनका मन कम लगता था, जब से अपने घर के बड़े कारबार और ज़मींदारी की देख-भाल का बोझ इन पर पड़ा था, किताबों की ओर नज़र उठाने की फ़ुरसत भी कहाँ थी ? किंतु, इस बार जो किताबों पर टूटे, तो क्या कहना ? मानो बहुत दिनों के भूखे के सामने सुस्वादु भोजन से भरा थाल रक्खा गया हो। दिन-रात किताबों के पन्ने उलटते; नोट के नाम पर कापियाँ-पर-कापियाँ रंगे जाते। चाय के समय, टहलने के वक़्त साथियों से किताबों के विषयों पर बहसें भी करते। रात में बहुत देर तक उनकी लालटेन जला करती—जेल के दो छटाँक किरासिन से काम नहीं चलता, तो 'तिकड़म' भी—सिर्फ़ इसी काम के लिये—करते।

जेल में यों तो हर विषय के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान था—रेशम के कीड़े पालने के शास्त्र से लेकर आइन्स्टीन की 'रिलेटिविटी' के जटिल सिद्धांत तक के पारायण होते; किंतु वहाँ सबसे ज्यादा प्रचलित विषय था समाजवाद। लक्ष्मी बाबू अपने को इससे वंचित क्यों रखते ? उन्होंने ज़ोरों से इसका अध्ययन और मनन शुरू किया। हाँ, सिर्फ अध्ययन ही नहीं, मनन भी। और, इस मनन ने उन्हें बताया कि समाज के कल्याण के लिये संसार में शांति और सुख की स्थापना के लिये समाजवाद की अत्यंत आवश्यकता है। पर, सवाल है, समाजवाद की स्थापना कैसे हो ? यहीं जाकर तो झगड़ा शुरू होता है। लक्ष्मी बाबू ने अपने लिये इस झगड़े का निबटारा कर लिया। बहुत ही सरल निबटारा! कार्ल-मार्क्स को रद्द कर उन्होंने अपने लिये रॉबर्ट ओवेन को आदर्श बनाया।

रॉबर्ट ओवेन!—कैसा सरल, संत पुरुष! धनी होकर भी उसने ग़रीबों की भलाई में अपने को उत्सर्ग कर दिया। मार्क्स की तरह उसने झगड़े नहीं लगाए, वर्ग युद्ध के नाम पर इस अशांत संसार की रही-सही शांति को भंग नहीं किया, बल्कि उसने त्याग और प्रेम के द्वारा नया संसार बसाने की कोशिश की। उसकी वह 'न्यू लारनाक' 'कालोनी'! कैसा आदर्श—पृथ्वी पर स्वर्ग क़ायम करने की इंसानी कोशिश! अगर ओवेन के तरह के कुछ संत पुरुष हर देश में जन्म लें,

तो सारे संसार का बेड़ा पार। लक्ष्मी बाबू मनन करते-करते ऐसा अनुभव करते, वह खुद ओवेन हैं, और अपनी ज़मींदारी के एक गाँव में उन्होंने भी एक ऐसी ही कालोनी बसा रक्खी है, जिसे देखने को हिंदुस्थान के कोने-कोने से लोग पहुँच रहे हैं। सबकी ज़बान पर उनकी प्रशंसा है, अख़बारों के कॉलम-के-कॉलम उनकी विरुदावली से रँगे जा रहे हैं।

कालोनी, जिसे वह 'आश्रम' का सुंदर भारतीय नाम देंगे पीछे खुलेगी। इस जेल में भी इस संबंध में कुछ किया जा सकता है या नहीं, इस पर विचार करके, 'शुभस्य शीघ्रम्' के आर्ष वाक्य के अनुसार, उन्होंने कार्रवाई शुरू कर दी। उनका प्रयोग दो व्यक्तियों को लेकर शुरू हुआ—एक उनका 'बावर्ची' और दूसरा उनका 'बेरा'। लोगों ने आश्चर्य से सुना, अपने 'बेरा' को वह 'लालू भाई' के नाम से 'आप' कहकर पुकार रहे हैं, और बावर्ची भी रमज़ान भाई बन चुका है। 'लालू भाई' ज़रा तौलिया लाइए।' 'रमज़ान भाई, खाने में कितनी देर है?'—इन पुकारों को सुनकर रमज़ान और लालू को चाहे जितना आश्चर्य होता हो, उनके कुछ साथी उन्हें ढोंगी भी समझते हों, किंतु लक्ष्मी बाबू को इसमें आत्मिक शांति मिलती। आत्मिक शांति—हार्दिक आह्लाद।

लालू और रमज़ान के खान-पान में भी इज़ाफ़ा हुआ। अब जो कुछ बनता, तीन के लिये। कभी-कभी लालू का सी-क्लासी भोजन भी लक्ष्मी बाबू चखते, ग़रीबों की ग़रीबी

अनुभव करने के लिये। यही नहीं इन दोनो के जीवन में भी घुसने की कोशिश वह करते । लालू चोरी में आया है, रमज़ान रेपकेस में। रेपकेस के नाम से ही वह घबरा उठते, उस घिनौनी हरकत के भीतर जाने की कल्पना से भी वह काँप जाते—यद्यपि वह मानते कि यह भी एक सामाजिक अभिशाप ही है, व्यक्ति तो इसमें फँस जाता है, फँसा लिया जाता है। रमज़ान दिन-भर रसोई-घर के ही प्रपंचों में रहता, अतः उस बेचारे को फुरसत भी कहाँ थी कि उससे कुछ पूछ-ताछ की जाय? किंतु, लालू तो दिन-भर उनके निकट रहता, अतः उन्होंने यह तय किया कि लालू की ज़िंदगी में घुसकर वह देखें कि आख़िर आदमी चोरी क्यों करता है?

हाँ, दवा के पहले निदान जरूरी है। किताबों में उन्होंने निदान पढ़ा था। किंतु, व्यक्तिगत जानकारी भी तो आवश्यक है। फिर, जब कि इस जेल में फ़ुरसत की कमी नहीं, और लालू के रूप में एक व्यक्ति भी है, जिस पर जाँच-पड़ताल मजे में की जा सकती है, तब तो इस मौक़े को छोड़ना भूल होगी।

[२]

लालू अपने तीन भाइयों में सबसे छोटा है। उसका बाप देहात का एक खेत-मज़दूर था। शादी के बाद वह अपने बाप के गाँव को छोड़कर लालू के ननिहाल में ही आ बसा था। लालू की मा सुंदरी थी। अपनी सुंदरी पत्नी की जवानी के आग्रह को वह नहीं टाल सका था। ससुराल में ही आ गया था।

वह काफ़ी हट्टा-कट्टा और कमाऊ आदमी था। अपनी गिरस्ती उसने अच्छी निभाई। बाबू के खेत में काम करता। मज़दूरी इतनी मिल जाती, जिसमें बीबी सहित अपनी गुज़र वह कर ले। कुछ बटाई खेती भी कर लेता। एक गाय और कुछ बकरियाँ भी उसने पाल रक्खी थीं। धीरे-धीरे उसके तीन बेटे और एक बेटी हुई। अपनी मज़दूरी, बटाई, गाय और बकरियों की आमदनी से उसने इन बाल-बच्चों की अच्छी परवरिश ही नहीं की, उनकी शादियाँ भी अच्छे ढंग से कराईं।

लालू की शादी हो चुकी है। उसकी शादी के बाद ही घर में वैमनस्य पैदा हो गया। दोनो बड़े भाई बाप से जुदा हो गए। उनका कहना था, बुढ़ऊ छोटे बेटे पर ज्यादा स्नेह रखते हैं, उसका पक्ष लेते हैं। लालू अपने बाप पर नहीं पड़ा था; उसका रूप-रंग ही नहीं, शरीर का गठन भी उसकी सुंदरी मा से मिला था। इसलिये शुरू से ही वह ज्यादा परिश्रम कर नहीं पाता। धूप तेज़ हुई, उसके शरीर से पसीना चूने लगा; माघ में पछोया हवा बही, उसके दाँत कटाकट करने लगे। बुढ़ऊ उससे कम काम लेता। भाई जब इस पक्षपात पर चिढ़ते, तो उसके काम को ख़ुद ही पूरा करने की कोशिश करता। उस बुढ़ापे में भी उसकी शक्ति का क्या कहना?—दो जवान के बराबर अकेला काम कर लेता। जिस समय लालू अपने बाप की चर्चा लक्ष्मी बाबू से कर रहा था, उसकी याद कर उसकी आँखों से ढल-ढल आँसू गिरते जाते थे।

लालू की बीवी भी काफ़ी सुंदरी है। जब बीवी आई, लालू उस पर मँडराता रहता। काम-काज में बिलकुल मन नहीं देता। भाइयों के लिये यह असह्य हो गया। आखिर आपस में जुदायगी हो गई—दोनो भाइयों ने अलग-अलग गिरस्ती सँभाली, बाप ने लालू का बोझ अपने ऊपर लिया। जब तक बुढ़ऊ रहे, लालू को मालूम नहीं हुआ कि किसे दिन और किसे रात कहते हैं। किंतु, बूढ़ा आदमी तो पका आम है। एक दिन आम गिर गया, डाली सूनी हो गई। लालू की समझ में नहीं आता, अब वह कैसे ज़िंदा रह सकेगा।

आदमी—परिस्थिति का पुतला! अब लालू को दीन-दुनिया देखने को मजबूर होना ही पड़ा। इसमें उसकी पत्नी ने उसे ख़ूब प्रोत्साहित किया। वह सबेरे लालू को उठाकर, रात की बची कुछ बासी चीज़ें—रोटी, गुड़ या पानी में रक्खा भात और अचार—खिलाकर मज़दूरी के लिये बिदा करती। मज़दूरी में जो अन्न मिलता, उसे अच्छी तरह कूट-पीसकर वह खाना बनाती, छींटी में खाना और पानी रखकर खेत में ही उसे खिला आती। लौटती बार कुछ घास भी छील लाती, जिससे गाय और बकरियों को पालती। शाम को जब लालू पहुँचता, बड़े प्रेम से उसके पैर धोती, और रात में सरसों का तेल लगाकर विना उसके शरीर की अच्छी मालिश किए, क्या वह कभी सोती?

लालू की बीवी का सुंदर मुखड़ा इस मेहनत-मशक़्क़त से

दिन-दिन मलीन होता जाता था। इस बात से लालू को बड़ा दुख होता। किंतु क्या करे बेचारा? उसके अपने चेहरे का पुराना रंग भी तो नहीं। जहाँ वह रोज माँग सँवारता, अब आईने में मुँह भी नहीं देखता। एक दिन बाबू के दालान में उनके बड़े आईने के सामने जब वह खड़ा था, अपनी पूरी आकृति उस आईने में देखकर वह चौंक उठा था। अरे, वह क्या हो गया। काला रंग, धँसे गाल, बिखरे बाल—वह वहाँ खड़ा नहीं रह सका।

तो भी उसे संतोष था, किसी तरह उसकी जिंदगी कट तो रही है। न तो उसे भाइयों के निकट हाथ पसारने की जिल्लत उठानी पड़ती, न बीवी को गोतिनों के व्यंग्य सहने पड़ते; बल्कि दोनो की तारीफें होतीं—आखिर अपने पर पड़ा, तब कैसे सँभल गए हैं दोनो। बाप की जिंदगी में कुछ छैला-पन रहा, तो क्या हुआ? बाप की जिंदगी में कुछ मौज न करता, तो फिर करता कब!

लेकिन, यह संतोष ज्यादा दिन तक नहीं टिका। गिरस्ती बढ़ने लगी। पहला बच्चा होने पर तो आनंद-ही-आनंद रहा। जब लालू की बीवी अपनी पहलौठी बिटिया को गोद में लेकर प्रसूति-गृह से निकली, लालू के आनंद की सीमा न रही। दूसरा बेटा हुआ—यहाँ तक आनंद अपनी जगह पर टिका रहा। लेकिन, जब लगातार हर वर्ष एक बच्चा आकर मा की गोद भरने लगा, और छ वर्षों के अंदर उसका छोटा-

सा आँगन पाँच बच्चों से भर चुका, तब तो आनंद की जगह चिंता ने ले ली। जब बच्चों की ही अच्छी तरह परवरिश नहीं हो पाती, तो उसकी मा के बारे में क्या पूछना? वह बेचारी छीजती जाती। धीरे-धीरे बकरियाँ, बछवे और अंत में गाय भी बिक गई। उसके बूढ़े बाप ने बड़े शौक़ से जो चाँदी और गिलट के गहने अपनी पतोहू को दिए थे, वे भी एक-एक कर बिक गए! बच्चे घर में अनाहार के कारण बन गए। हाँ, वे ही बच्चे जो धनियों के घर में आनंद के स्रोत समझे जाते, लालू की कुटिया में अनाहार के कारण बन गए!

लालू दिन-रात परिश्रम करके भी अपनी गिरस्ती के छकड़े को आगे घसीटने में असमर्थ साबित होने लगा। अनाहार ने पूरी मेहनत की ताक़त भी उसमें कहाँ छोड़ी थी? वह अथाह सागर में पड़ा था—न नाव, न पतवार। तैरने के नाम पर हाथ-पैर हिलाने की ताक़त भी जब उसमें नहीं रह गई, तो अचानक उसे एक सड़ा मुर्दा बहता हुआ मिल गया। वह उस मुर्दे को पकड़ कर आगे बढ़ने लगा!

सड़ा मुर्दा—चोरी का पेशा—सड़ा मुर्दा—बदबू, उबकाई! कलेजा मुँह को आता! लेकिन, दूसरा चारा क्या था? या डूबो, या इस सड़े मुर्दे को पकड़ो। अकेले रहता, तो लालू यह पेशा कभी न करता—मर जाना पसंद करता। किंतु, ये बच्चे, बीवी—कभी की उसकी सुंदरी, प्यारी स्त्री!

सड़े मुर्दे को पकड़कर उसने अथाह सागर पार करने का निश्चय किया।

अगहन का महीना था। खेतों में पके धान के सुनहले बाल लहरा रहे थे। किसानों के खलिहान में बोझों के अंबार लगे थे। जहाँ नज़र दौड़ाइए, अन्न-ही-अन्न, पके, पुष्ट, सुनहले अन्न! और, अन्न की इस भरमार के बीच लालू के घर का अनाहार! एक रात को उसे नींद नहीं आई। भूखे बच्चे किल-बिल कर रहे थे, मा चुप करने से ऊबकर जब-तब उन्हें चपतें लगा देती। लालू के पेट में अँतड़ियाँ चिग्घार रही थीं। वह उठा, घर के बाहर आया। साफ़ आसमान में तारे चमक रहे थे—डंडी-तराज़ू के पंक्तिवत् तीन तारे पश्चिम की ओर झुक चले थे। हवा सन-सन कर रही थी। उस अर्ध-रात्रि की निस्तब्धता में हवा के झोंके से खेत के पके धान के बाल रह-रहकर झिर-झिर कर उठते थे। धान के बाल खेतों में; और आँगन में अन्न के अभाव में यह कुलबुलाहट! क्या करे? उसका दिमाग़ काम कहाँ कर रहा था? पैर उठे, हाथों ने हँसिया ली, और काँपते हुए वह सीधे एक खेत में पहुँचा। चारो ओर देखा, कोई नहीं, लेकिन उसके हाथ में जैसे लक़वा मार गया हो। हँसिया ठीक से पकड़ी नहीं जाती। किसी तरह बाएँ हाथ से एक मुट्ठी बाल पकड़ उसने हँसिया चलाई—सूखी डाँड़ की खड़खड़ाहट से वह ख़ुद चौंक पड़ा। पर, धीरे-धीरे भ्रम दूर होता गया, झिझक भी दूर होती

गई। हाथ काम करने लगे, हँसिया काम करने लगी। धान के बालों को उसकी हँसिया इस निस्तब्धता में सरसर काटने लगी। थोड़ी देर में एक बोझ बाल लिए आँगन में आया, अधसोई बीवी को जगाया। उसे आँगन में लाकर बोला—"इसी समय इसे मीसकर धान निकाल ले।" "यह कहाँ से आया?—तुमने चोरी की है!" उसकी बीवी पूछने या चिल्लाने जा ही रही थी कि लालू ने उसके मुँह पर हाथ रख कहा— "अब चिल्लायगी, तो मैं फँसूँगा; पीटा जाऊँगा, जेल होगी। चुपचाप मीसकर धान रख ले, पुआल जलाकर ताप जा।"

वही हुआ; आँखों में आँसू भरे उसकी बीवी ने धान घर में रक्खा। पुआल में जब आग लग ई, लालू ने देखा, उसकी आँखों से आँसू की धारा बह रही है। लालू भी कम शरमिंदा न था। लेकिन, लालू की शरम और उसकी बीवी के आँसू उस समय हँसी में बदल गए, जब दिन में उसने भर-पेट खाए अपने बच्चों को किलकारियाँ भरते देखा।

चोरी?—कितना घिनौना काम? जब कोई निश्चिंत सोता हो, प्रकृति की अपूर्व देन इस नींद का नाजायज़ फ़ायदा उठाकर चुपचाप किसी का खेत काट लेना, किसी के खलिहान से अन्न उठा लेना, किसी की बखारी में छेद कर बोरे-के-बोरे ले आना, किसी के घर में सेंध दे गहने या नक़द पर छापा मारना! उफ़्, कितना जघन्य काम! किंतु आसान भी कितना!

न मेहनत, न मशक़्क़त—थोड़ी हिम्मत की ज़रूरत। एक बार हाथ साफ़ करो, हफ़्तों, महीनों बाल-बच्चों के साथ निश्चिंत आराम से रहो! न हल्दी लगो, न फिटकरी और रंग चोखा!

लालू धीरे-धीरे पक्का चोर हो गया। खेत से खलिहान में—खलिहान से दरवाज़े पर, दरवाज़े से जनानख़ाने में। सब जगह उसकी पैठ हुई। जहाँ पहले पैर काँपते थे, शरीर थरथराता था, साँस ज़ोरों से चलने लगती, ख़ून सूखता मालूम होता, वहाँ अब अपने करतब पर, हाथ की सफ़ाई पर उसे नाज़ होता, फ़ख़्र होता। धीरे-धीरे पुराने चोरों से उसकी जान-पहचान हुई। कुछ नए लोगों को उसने तालीम दी। अब उसका अपना पूरा गिरोह था। बड़े-बड़े हाथ मारे जाते। गाँव का ज़मींदार ही उसका 'गुइयाँ' बना—चोरी का माल वही रखता, बेचता, और जितनी उसकी इच्छा होती, उन्हें देता। चौकीदार से लेकर थानेदार तक से 'साँठ-गाँठ' शुरू हुई! फिर एक बार लालू की बीवी की देह पर चूनर चमकने लगी, उसके बच्चे रंग-बिरंग कपड़े पहने किलाल करने लगे, वह ताड़ी से शुरू कर गाँजा तक चढ़ाने लगा! बचपन में एक बार उसने भंग पी थी, हँसते-हँसते वह बेहोश हो गया था। उसके पिता ने उसे बड़ी डाँट बताई थी। उसने भी उस दिन से क़सम खा ली थी, नशा नहीं करेगा। लेकिन अब वह क्या करे? चोर के देवता बिना इन मादक पदार्थों के चढ़ावे के ख़ुश ही नहीं होते। और, उनकी नाराजी के बाद

कोई चोर एक दिन भी बच सकता है ? नशा खाओ, चोरी करो, मस्त रहो।

गाँव के लोग समझते थे, लालू की इस मौज का क्या मानी है ? लेकिन कौन बोले ? ज़मींदार उसकी पीठ पर, चौकीदार उसका साझीदार। उल्टे अब उससे सब डरते—कहीं इसने किसी दिन हमीं पर हाथ साफ़ किया, तो ?

लेकिन, लालू कह रहा था—

बाबू, पाप छिपाए नहीं छिपता, कुकर्म का फल भुगतना ही होता है; अच्छे दिन के सभी साथी, बुरे में कोई पूछता तक नहीं। एक बार ज़रा पैर नीचे पड़ गया, पकड़ गया—फिर किसी ने सुध भी नहीं ली। दारोगाजी ने पीटा, चौकीदार ने गवाही दी, ज़मींदार थाती पचाकर यों बैठ गया कि क्या कहिए। बेचारी औरत ने उससे मिन्नत की—"थोड़ी मदद कीजिए, मुक़दमा लड़कर उन्हें छुड़ा लाती हूँ।" वह दौड़ी-दौड़ी अदालत आती-जाती रही। जो कुछ घर में था, उसने ख़र्च भी किया, किंतु मेरी तक़दीर फूटी थी—यह, तीन बरस से चक्की चला रहा हूँ।

लक्ष्मी बाबू ने देखा, लालू की आँखों के आँसू पश्चात्ताप के आँसू हैं। परिस्थिति ने उसे इस गंदगी में ढकेला। अब भी इसका सुधार संभव है। आदमी के हृदय में देवता और शैतान, दोनों बसते हैं। शैतान देवता पर प्रबल सिद्ध हुआ

है ज़रूर, लेकिन देवता अमर हैं। वही देवत्व उसके आँसुओं के रूप में चमक रहा है। इस देवत्व को विजयी बनने, विकसित होने में लक्ष्मी बाबू बेचारे लालू की मदद करेंगे। वह दिखला देंगे, एक चोर भी साधु की ज़िंदगी बिता सकता है।

[३]

लक्ष्मी बाबू ने लालू के लिये कुछ कम नहीं किया। जब गांधी-इर्विन-सुलह में, समय के पहले ही, वह रिहा होकर घर चले, लालू के नाम से वह कुछ रुपए जेल-गेट पर जमा करते गए। लालू से उसके घर का पता भी उन्होंने ले लिया था। जब लालू की पत्नी ने जेल में ख़त भेजवाया कि किसी ने उसके बच्चे के नाम से २५) भेज दिए हैं, तब लालू को यह कल्पना करते देर न लगी कि यह लक्ष्मी बाबू की महाकृपा है।

चलते समय लक्ष्मी बाबू लालू से कह गए थे—"छूटकर मेरे घर आना, मैं तुम्हें अपने साथ रक्खूँगा।" कई बार बीच में उनके ख़त भी आते रहे। पहले पखवारे-पखवारे, फिर देर होना शुरू हुआ। आख़िरी चिट्ठी तो तीन महीने बाद उसे मिली। किंतु लालू के लिये क्या इतना कम था कि वह उसे भूले नहीं? पहले तो उसने तय किया था, सजा पूरी कर वह पहले बाबू के दर्शन कर आएगा, फिर बाल-बच्चों से मिलेगा; किंतु सज़ा पूरी होने पर ममता

उसे पहले घर घसीट कर ले गई। वहाँ एक सप्ताह गवाँकर वह सीधे लक्ष्मी बाबू के घर पहुँचा।

लक्ष्मी बाबू फिर अपनी घर-गिरस्ती में लग चुके थे। ओवेन का नाम और समाजवाद की चर्चा वह मित्रों से बात-चीत करते समय बार-बार लेते करते ; लेकिन ओवेन का काम और समाजवाद का आदर्श उनके सांसारिक कर्म-कलाप में लोप हो चुका था। जिस गाँव में उन्होंने आश्रम बनाने का संकल्प किया था, वहाँ अब भी उनकी कचहरी क़ायम थी, जिसमें बैठकर उनके अमले किसानों को तरह-तरह से तंग करते। हाँ, मानो, इसकी क्षति-पूर्ति के लिये अब साल में एक बार, वहाँ लक्ष्मी बाबू पहुँचते, सभी किसानों को बुलाकर उनके बच्चों में मिठाइयाँ बटवा आते, और उनसे हँस-हँसकर बनियाने की क़ीमत में मोटी रक़म नज़राने में वसूल कर लाते। यह उनका जन-संपर्क' था! वह अपने हम पेशे ज़मींदारों पर रोब जमाते हुए उनसे भी इस उदारता का अनुकरण करने का आग्रह करते!

लालू को देखकर उन्हें वह आनंद नहीं हुआ, जिसकी कल्पना उन्होंने जेल में की थी। क्योंकि अब लालू पर प्रयोग करने की बात ही नहीं रह गई थी। हाँ, जहाँ वह लालू को आश्रमवासी बनाना चाहते थे, वहाँ अब लालू एक नौकर की तरह उनकी शरण में रहने लगा। लालू के लिये उनकी इतनी कृपा ही काफ़ी थी! उनकी पिछली कृपाओं

को वह नहीं भूल सकता था! वह एक अनुगृहीत दास की तरह तन-मन से उनकी सेवा में जुट पड़ा।

जेल की दुनिया निराली होती है। वहाँ आदमी तरह-तरह की सुनहली कल्पनाएँ करता है, कल्पना के महल बनाता है। लेकिन, वास्तविक दुनिया की गरम हवा लगते ही वह कल्पना-महल ताश के घर की तरह भहरा पड़ता है। लक्ष्मी बाबू के सामने उनका अपना ही उदाहरण था। जेल में वह त्याग-मूर्ति बनने को तय कर चुके थे, यहाँ फिर वही पुराना रईसी रंग-ढंग है। लालू की भी यही हालत हो सकती है, उन्होंने यह सोचा। इसलिये जहाँ उसे नौकर की हैसियत से रक्खा, वहाँ सशंक भी रहते कि कहीं वह एक दिन कुछ मारकर चंपत न हो जाय। इसीलिये, जिसमें हमेशा वह उस पर निगरानी रख सकें, उन्होंने लालू को अपनी व्यक्तिगत सेवा में ही रक्खा था। किंतु, इस व्यक्तिगत सेवा का मौक़ा पाकर लालू उनका स्नेह और कृपा अधिकाधिक प्राप्त करता गया। तरह-तरह से जाँचकर लक्ष्मी बाबू ने देखा कि लालू सचमुच अपना पुराना जीवन बिलकुल भूल गया है, और एक नया, पवित्र, संयमी जीवन व्यतीत करने की चेष्टा में तत्पर है। थोड़े ही दिनों में लालू उनका परम विश्वास-पात्र सेवक बन गया।

एक दिन लालू के घर से एक पोस्टकार्ड आया। वह कार्ड लक्ष्मी बाबू के हाथ में पड़ा। उसकी स्त्री ने घर के कुशल-क्षेम लिखवाने के बाद, नए मालिक को उनकी पूर्व और वर्तमान

कृपाओं के लिये अनेक दुआएँ दी थीं, और अंत में लालू को लिखा था कि वह जो मुशाहरे के सात रुपए हर महीने भेजता है, उनसे उसके घर की गुज़र नहीं हो पाती। उसके दो बच्चे मर चुके थे। ख़ुद वह लालू की जेल के बाद से ही एक बाबू के घर कुटना-पिसना कर कुछ कमा लेती थी। लेकिन, जैसा ज़माना है, चार प्राणियों की गुज़र नहीं हो पाती, अतः वह अपने दयालु मालिक से अर्ज़ करे, कुछ मुशाहरा वह बढ़ा दें। इस ख़त के बाद लक्ष्मी बाबू ने लालू का मुशाहरा सात रुपए से दस रुपया कर दिया। उस रात कृतज्ञता के बोझ से दबे हुए लालू को जल्दी नींद नहीं आई थी।

लालू की ईमानदारी और सेवा-भावना दिन-दिन कुंदन की तरह निखरती गई। लक्ष्मी बाबू की कृपा भी अधिकाधिक फलवती होती गई। जब अगले फागुन में वह पंद्रह दिनों की छुट्टी में घर जाने लगा, लक्ष्मी बाबू ने उसकी स्त्री के लिये एक अच्छी कोरदार साड़ी और उसके बच्चों के लिये छींट के कुरते सिलवाकर दिए। लालू ने मन-ही-मन कहा—सचमुच, लक्ष्मी बाबू मनुष्य-रूप में देवता हैं!

[४]

अब लालू सिर्फ़ लक्ष्मी बाबू का परम विश्वास-पात्र नौकर ही नहीं था—उनके सूटकेस की कुंजी उसके पास रहती, उनका पर्स वही रखता, बैंक से वही रुपया निकासी कराता—

बल्कि वह उनकी उदारता की प्रदर्शन-मूर्ति भी था। जब कोई नए ख़याल के सुधार-प्रेमी सज्जन उनके यहाँ आते—प्रायः आते ही रहते—झट लालू को बुलाकर वह उसकी तारीफ़-पर-तारीफ़ किए जाते, मानो उन पर धौंस जमाते कि किस तरह एक पतित जीवन को उन्होंने सुमार्ग पर लगा दिया है। सचमुच अगर हर धनी आदमी इस ओर ध्यान दे, तो दुनिया में चोरी-डकैती क्यों हो, क्यों जेलें भरें, क्यों यह दुनिया नरक बने? ईसा ने ज़मीन पर स्वर्ग बसाने की जो बात कही, उसके कथन का तथ्य यही है। लक्ष्मी बाबू सोचते, ओवेन के ऐसा आश्रम नहीं बना सके, तो क्या हुआ, एक ज़िंदगी को सुधार देना ही क्या कम है? 'मॉडल' और 'तस्वीर' में फ़र्क़ होता ही है। इँगलैंड की बात हिंदुस्थान में आते-आते अपना ज़ोर और फैलाव खो दे, तो आश्चर्य क्या?

एक दिन लक्ष्मी बाबू के पास एक मार्क्सवादी समाजवाद के नेता पहुँचे। उनसे बातें करते समय लक्ष्मी बाबू ने सुधारवाद पर एक ख़ासा लेक्चर दे डाला। आप लोग सिर्फ़ हल्ला मचाते हैं, झगड़े खड़े करते हैं, विध्वंसात्मक कामों में ही उलझे रहते हैं। आप आग लगाना जानते हैं, घर बनाना नहीं। समूह के शोर में व्यक्ति पर आप ध्यान ही नहीं देते। यदि हममें से हर आदमी कम-से-कम एक आदमी का ज़िम्मा अपने ऊपर ले ले, तो बहुत कुछ हो जाय। कुछ रचनात्मक काम कीजिए। देखिए, हमारे इस लालू को। यह चोर था,

बुरी ज़िंदगी थी इसकी। अब यह एक ईमानदार आदमी है। मुझसे और कुछ न हो सका—एक ज़िंदगी को बरबाद होने से बचाने, एक घर को उजड़ने से बसाने का फ़ख़्र तो मुझे हासिल है ही!

यों ही लक्ष्मी बाबू बोलते गए। नेता थोड़ी देर चुप रहे। फिर उन्होंने इस तरह के प्रयोगों की व्यर्थता बताते हुए अंत में कहा—

सवाल समूह और व्यक्ति का तो है ही। देखना यह भी है कि एक व्यक्ति की ज़िंदगी भी किस हद तक इस समाज में अच्छी की जा सकती है। आप समझते हैं, लालू आपके यहाँ ख़ुश है, उसे अपनी ज़िंदगी पर संतोष है। अपनी मूढ़ता और प्रचलित धारणा के कारण उसने संतोष मान भी लिया हो। लेकिन माफ़ कीजिए, उसकी ज़िंदगी में ऐसे क्षण भी आते होंगे, जब आपके पर्स के नोटों के गड्ड, आपके हाथ की ख़ूबसूरत घड़ी, आपके चमचम कपड़े, आपकी बीवी-बच्चे के पहनावे और ज़ेवर उसके दिल में एक कसक, एक हूक, एक व्याकुलता, एक आतुरता पैदा करते होंगे। लालू इन पर क्षणिक विजय प्राप्त कर लेता हो, इसके लिये आप-हम उसकी तारीफ़ भी करें। लेकिन लक्ष्मी बाबू, एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब संयम का बाँध टूट जाय, और फिर बेचारे को किसी क़ैदख़ाने में चक्की चलाने को जाना पड़े। मान लीजिए, एक लालू ने ज़िंदगी

निबाह भी दी, लेकिन संसार में जो करोड़ों लालू हैं, उनकी अतृप्त लालसाएँ पुंजीभूत हो रही हैं, और वे एक दिन विस्फोट करेंगी ही, इसलिये जरूरी है कि समाज की नींव ·········

लेकिन, लक्ष्मी बाबू पर ऐसी दलीलों का क्या असर होनेवाला था ?—वह अपनी ही हाँकते गए, अपनी ही हाँकते रहे। उनका अपना जीवन संतोषप्रद था—सबकी ज़िंदगी में वह संतोष ही देखें या देखना चाहें, तो आश्चर्य क्या ?

नेता चले गए, उनकी बात भी चली गई। लक्ष्मी बाबू और लालू की ज़िंदगी अपनी धारा में बहती चली।

लेकिन, एक दिन जब एक बीमा-कंपनी के डायरेक्टर लक्ष्मी बाबू के पास आए, और स्वभावतः लक्ष्मी बाबू ने लालू की तारीफें शुरू कीं, तो उसने जो कुछ कहा, उससे थोड़ी देर के लिये लक्ष्मी बाबू काफ़ी चंचल हुए। उसने बताया, लालू-ऐसे आदमियों से हमेशा होशियार रहना चाहिए। ऐसे लोग बड़े घाघ होते हैं। विश्वास जमाने के लिये काफ़ी अर्से तक ये ऐसे सुधुआ बन जाते हैं कि इनके नज़दीक जड़ भरत की सिधाई भी मात। लेकिन पीछे तो ये इस तरह हाथ साफ़ करते हैं कि हाथ मलकर रह जाना पड़ता है। इनका सुधार हो नहीं सकता—"'सूरदास' कारी कामर पर चढ़त न दूजो रंग।" सिर्फ़ कहना ही नहीं, उन्होंने कई उदाहरण देकर लक्ष्मी बाबू पर यह सिद्ध कर दिया कि लालू पर उनका विश्वास ग़लत है। ज़रा चौकन्ने रहें। कहीं ऐसा न हो

कि एक दिन उन्हें पछताना हो, और "फिर पछताए होत क्या, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत ?"

लक्ष्मी बाबू ने उन्हें काफ़ी फटकारा। उनके जाने के बाद भी सोचते रहे, अजीब होते हैं ये लोग। हमेशा संदेह ही इनके दिल में बना रहता है। सबको संदेह की ही नज़र से देखते हैं ये। विश्वास का कहीं नाम-निशान नहीं। और, कहीं बिना विश्वास के संसार चलता है ? अगर विश्वास न हो, तो क्यों कोई इनकी बीमा-कंपनी के जाल में फँसे ? दूसरों से कहेंगे, विश्वास कीजिए, और ख़ुद सबको संदेह की नज़र से देखेंगे। क्या कहने हैं ! एक बार परिस्थिति-वश ग़लती हो गई, तो उसे ढोए जा रहे हैं। जैसे मानव-जीवन में सुधार का स्थान ही नहीं।

कुछ ऐसी ठेस इस बात से उन्हें लगी कि वह लालू को और भी प्यार करने लगे। एक दिन उससे पूछा, तुम्हारे बड़े बच्चे की क्या उम्र है लालू ? और, जब लालू ने बताया, वह बारह वर्ष का हो चुका है, तो उससे कहा कि इस बार घर जाओ, तो उसे भी लेते आना, और उससे छोटे को भी। उन्होंने सोचा, बड़ा 'ब्वाय' का काम अच्छा कर लेगा, और छोटे को वह स्कूल में पढ़ाने को भेज देंगे। हाँ, वह उसे पढ़ा-लिखा-कर दुनिया को बता देंगे कि किस तरह एक परिवार को गंदगी और ग़रीबी से उबारकर प्रसन्न, उन्नत और समृद्ध बनाया जा सकता है।

[५]

"अति सर्वत्र वर्जयेत्"—लालू पर लक्ष्मी बाबू की इस अति कृपा का एक बुरा परिणाम भी हुआ। दूसरे नौकर उससे डाह करने लगे। लालू को प्रदर्शन के रूप में पेश करने के लिये लक्ष्मी बाबू उसे बहुत साफ़-सुथरा रखते थे। धीरे-धीरे यह उसकी आदत हो चली थी। उसके साफ़-सुथरे कपड़े को देख दूसरे नौकर जल उठते थे। वह साबुन से नहाता था, सिर में ठंडा तेल देता था, कंघी करता था। पूरा बाबुआनी ठाठ। जब वह आया था, सब नौकरों से हिला-मिला रहता था, उनके पास बैठता, उनसे गपें करता, कभी-कभी उनके साथ गा लेता। चिलम का दम भी लगा लेता। लेकिन, अब वह उनसे दूर ही रहता। अपने ही एक साथी को अपने से इतनी दूर निकल जाता देख किसे चिढ़ और कुढ़न न होगी?

सिर्फ़ नौकर ही उससे नहीं चिढ़े रहते थे, उनके घरवाले भी इस शोख़ नौकर से जले-भुने रहने लगे थे। जब वह आया था, घर के हर आदमी का काम करने को तैयार रहता। अब, लक्ष्मी बाबू को छोड़ किसी के पास फटकता नहीं। वह कामचोर अब भी नहीं था। लेकिन, लक्ष्मी बाबू की व्यक्तिगत सेवा के बाद का समय वह उन्हीं के किसी काम में लगाता। कभी अलमारी झाड़ता, कभी कपड़ों को धूप में सुखाता, कभी फ़र्श को नए सिरे से झाड़-बुहारकर सजाता, कभी उनके डेढ़ दर्जन जूतों पर अलग-अलग रंग की पॉलिश लगाकर उन्हें

चमाचम बना देता। बाज़ार से सौदा-सुलफ भी ज्यादातर अब वही करता। फिर लक्ष्मी बाबू के ही आग्रह पर, जेल में जहाँ तक वह उसे पढ़ा चुके थे, उसके बाद, नया ज्ञान अर्जन की ओर वह ध्यान देता। जब वह कोई किताब ले, किसी कोने में बैठे, चुपचाप पढ़ता होता, लक्ष्मी बाबू उसे देखकर जितना खुश होते, उससे कईगुना अधिक उनके परिवारवाले जल उठते।

नौकरों का, घरवालों का रुख़ लालू देखता था। उसे पीड़ा होती थी। वह अपनी स्थिति आज भी नहीं भूला था, वह नौकरों से मिलकर रहना चाहता था, मालिक के परिवारवालों को ख़ुश रखना चाहता था। लेकिन, वह करे, तो क्या करे ? लक्ष्मी बाबू की इच्छा और आराम उसके लिये सर्वोपरि चीज थी। और दोनो में सामंजस्य की कोई गुंजायश ही उसे नहीं देख पड़ती थी।

तो भी, उसे प्रसन्नता इस बात की थी कि लक्ष्मी बाबू को सदा प्रसन्न रखने में वह समर्थ हो सका था। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे, वह लक्ष्मी बाबू की ज़िंदगी का अंश बनता जाता था। हाँ, वह अब सिर्फ उनका नौकर नहीं था—उनके जीवन का अंग और अंश हो चला था। जिस तरह उसे पाकर अब लक्ष्मी बाबू व्यक्तिगत सेवाओं से निश्चिंत रहते, लालू भी निश्चिंत हो चला था कि अब उसकी ज़िंदगी एक किनारे लग चुकी है। जब दोनो बेटों को वह ले आएगा, उनमें

से एक पढ़ेगा, दूसरा उसकी कामों में मदद करेगा—इसकी कल्पना कर वह आनंद-मग्न हो जाया करता था। उसने अपनी स्त्री को जो हाल में ख़त भेजा था, उसमें इस बात की चर्चा भी कर दी थी। इतनी बड़ी खुशख़बरी से अपनी प्यारी पत्नी को कैसे महरूम रखता?

इसी तरह हँसी-खुशी में लालू के दिन कट रहे थे कि—

हाँ, इसी तरह उसकी ज़िंदगी हँसी-खुशी में कट रही थी कि अचानक कुछ अप्रत्याशित घटनाएँ घटकर लालू और लक्ष्मी बाबू दोनों को परेशान करने लगीं।

एक दिन लक्ष्मी बाबू शाम को टहलकर लौटे। बड़ी गरमी थी। उन्होंने अपनी बंडी उतारकर लालू को रखने को दी। लालू ने कमरे में ले जाकर उसे खूँटी पर टाँग दिया। बंडी की जेब में वह अपना फ़ाउंटेनपेन रखते थे। बढ़िया 'पारकर' था। रात को वह अमूमन देर तक पढ़ते रहते थे—यह चाट जेल से ही वह ले आए थे। हाँ, जहाँ जेल में गंभीर विषयों का अध्ययन होता, वहाँ अब सस्ते, रेलवे-स्टालों पर बिकनेवाले, उपन्यासों के ही पन्ने उलटे जाते। उस रात जब सब लोग सो गए थे, पढ़ते-पढ़ते उन्हें किसी चीज़ के नोट करने की जरूरत महसूस हुई, तो उन्होंने पेन की तलाश की। पेन जेब में नहीं था, क्या हो गया? इधर-उधर ढूँढ़ा। फिर सोचा, कहीं लालू ने रख दिया होगा। वह झल्लाए तो, लेकिन उन्हें कोई दूसरी आशंका नहीं

हुई। सबेरे लालू से पूछा। उसने कहा, मैंने न रक्खा, न देखा। तो क़लम क्या हुआ? उनके घर में कोई दूसरा तो आता नहीं। शायद मोटर पर गिर गया हो। उस पर तलाश किया गया। वहाँ न मिलने पर लक्ष्मी बाबू ने मान लिया, जब वह नदी के पुल पर टहल रहे थे, कहीं जेब से खिसक गया होगा। लालू पर तो वह संदेह कर ही नहीं सकते थे।

फिर कुछ दिनों बाद एक उनकी सोने की घड़ी ग़ायब हो गई। बाहर से आए। स्नान-घर में जाने के पहले जल्दी में घड़ी उतारकर उन्होंने मेज़ पर रख दी थी। लालू उस समय स्नान-घर में उनके कपड़े, तौलिया आदि रखने गया था। स्नान करके वह जल-पान वग़ैरा में लगे। फिर अलसा-कर सो गए। जब नींद टूटी, कलाई पर नज़र की। घड़ी नहीं। याद हुआ, मेज़ पर रख दी थी, लेकिन वहाँ घड़ी नहीं थी। और, इस बार भी पूछने पर लालू ने नाहीं कर दी।

जिस समय क़लम चोरी गया था, उन्होंने किसी से नहीं कहा था। शाम को बाज़ार गए, और उसी मेल की दूसरी क़लम ले आए। किसी को पता भी नहीं चला कि उनकी क़लम ग़ायब हुई है। ऐसा उन्होंने इसलिये भी किया था कि कहीं किसी को लालू पर अनुचित शक न पैदा हो जाय। लेकिन घड़ी की चोरी छिपाना मुश्किल था। काफ़ी क़ीमती घड़ी थी—फिर, ससुराल में मिली। पंद्रह वर्षों से उसे अपनी कलाई पर दिन-रात बाँधते आ रहे थे। उसे न

देखकर लोग पूछेंगे ही। क्या कह दूँ, मरम्मत करने को बाहर भेज दी है? लेकिन, यह झूठ क्यों बोलूँ? आत्म-प्रवंचना तो ठीक नहीं। तब घड़ी हो क्या गई? मेज़ पर रक्खी—यह अच्छी तरह याद है। घर में यों कोई नहीं आता, और न आया, यह भी सही है। तब? इसके आगे सोचने की जैसे उनमें हिम्मत नहीं थी। मन दूसरी ओर ले जाने के लिये उन्होंने किताब के पन्ने उलटे, कपड़े की अलमारी खोली, बैठक़ख़ाने में जाकर मुंशीजी से ज़मींदारी का हिसाब-किताब पूछने लगे, सबेरे टहलने गए, सबेरे खाया, सबेरे सो गए।

लेकिन, सोने की चेष्टा करने पर भी उन्हें नींद कहाँ आई? उन्हें रह-रहकर उस बीमा-कंपनी के डायरेक्टर की बात याद आने लगी—ऐसे लोग बड़े घाघ होते हैं, विश्वास जमाने के लिये सुधुआ बने रहते हैं, लेकिन पीछे तो ऐसे हाथ मारते हैं कि हाथ मलकर रह जाना पड़ता है। क्या लालू ने भी ऐसा ही किया है? जाने दीजिए इस बीमा-कंपनी-वाले की बात। ये लोग कुछ ज़बाँदराज़ और लफ़्फ़ाज़ भी होते हैं। लेकिन, वह समाजवादी नेता? वह तो ग़रीबों का हिमायती था। उसने भी तो कहा था—आप समझते हैं, लालू ख़ुश है, लेकिन ऐसे वक़्त भी आते होंगे, जब आपके पर्स के नोटों के गड्डे, आपके हाथ की ख़ूबसूरत घड़ी .. ! बस, बस, हो-न-हो, वही वक़्त था, जब कि उसने··· ! लेकिन, इससे

आगे फिर वह नहीं सोच सके। दूसरे पहलू से नेदेख की कोशिश की। क्या यह संभव नहीं कि कोई दूसरा नौकर ही अचानक उस ओर से गुज़रा हो, और उसी ने ··तो क्यों नहीं, कल ज़रा सब नौकरों की जाँच-पड़ताल की जाय? परंतु, ज्यों ही मैंने ऐसा किया, फिर तो घर-भर में हल्ला मचे··। घर में ही क्यों, बाहर तक। और, सबका संदेह लालू पर ही जायगा, और वे कहेंगे, चोर नौकर रखने का यही नतीजा होता है। कहेंगे, हसेंगे, मुझे बुद्धू समझेंगे। धन गया, बेवक़ूफ़ भी क्यों कहलाऊँ? कहीं झूठ न बोलना पड़े, इसके लिये दूसरे ही दिन उन्होंने किस ज़मीदारी की तरफ़ जाने का तय किया। लौटने पर लोग पूछेंगे, तो देखा जायगा। हाँ, इस निश्चय के साथ उन्होंने यह भी तय किया कि अब ज़रा लालू पर निगरानी भी रक्खेंगे।

ज़मीदारी से लौटे। लोगों के पूछने पर यह भी कह दिया कि घड़ी ग़ायब हो गई। लेकिन, कहाँ, कब की चर्चा होते ही बातें बदल दिया करते। धीरे-धीरे लालू पर फिर उनका विश्वास जमता जा रहा था।

इसी समय, ऊँट की पीठ पर के आख़िरी तिनके की तरह, एक घटना और घट गई। एक दिन उन्होंने अपना पर्स भी ग़ायब पाया। पर्स अब वह हमेशा अपने ही पास रक्खा करते थे। उस दिन सिर्फ़ दस-दस रुपए के दो नोट ही उसमें थे। लेकिन, अब तो उन्होंने मान लिया कि लालू फिर चोर हो

चला है। समाजवादी नेता की बात सच निकली—ये कमबख्त सचमुच कलियुगी पैग़ंबर होते हैं, लेकिन उन्हें भय तो हुआ बीमा-कंपनी के डायरेक्टर की बात को याद कर। अरे, अब यह निश्चय ही गहरा हाथ मारेगा, और मुझे हाथ मल-मलकर रह जाना पड़ेगा ! नहीं, इससे पिंड छुड़ाना ही अच्छा। तो क्या पुलिस को दे दूँ ? ऐसे चोट्टों की यही गति होनी चाहिए। जायँ साले जेल, पीसें चक्की। किंतु, इसी समय उन्हें याद आई समाजवादी नेता की बात—शायद फिर कहीं न इस बेचारे को उसी क़ैदखाने में चक्की चलाना पड़े। यह तो उसने ताना दिया था। नहीं, हम उसे भी बता देंगे, हम ऐसे नीच नहीं हैं।

शाम हो रही थी। लक्ष्मी बाबू का रुख देख, लटका चेहरा लिए लालू उनके टेबुल का बड़ा लंप जलाने का उपक्रम कर रहा था कि उन्होंने उसे पास बुलाया। कुछ पूछ-ताछ किए बग़ैर, दस-दस रुपए के दस नोट उसके हाथ में रख कहा—"लालू, ये रुपए लो, अब घर जाओ। तुम्हारे लिये मेरे यहाँ अब जगह नहीं। इन्हा रुपयों से कुछ ......या ...... ।" वह बोल न सके। बाबू—लालू ने भरे गले से कुछ कहना चाहा। नहीं, जाओ, जाओ।—उनके मुख की मुद्रा कठोर थी। हाथ से वह हटने का इशारा कर रहे थे।

थोड़ी देर में, जब वह अकेले थे, गुनगुना रहे थे—

"'सूरदास' कारी कामर पर चढ़त न दूजो रंग।"

[६]

जिस दिन लक्ष्मी बाबू का फ़ाउंटेनपेन गुम हो गया, लालू उसी दिन से ग़मगीन रहता! यद्यपि उन्होंने उससे इस बारे में एक बात नहीं कही, उल्टे उसे उत्साहित करने के लिये अब उससे इधर-उधर की ज्यादा बातें किया करते, उस पर ज्यादा विश्वास और प्रेम दिखलाते, तो भी लालू को कोई चीज़ खटकती-सी रहती। कुछ इस तरह मालूम होता—उसके अच्छे दिन बीत गए, कोई संकट उस पर आनेवाला ही है। दिखाने के लिये वह अपना व्यवहार पूर्व-सा ही रखता, अपने में फुर्ती और चुस्ती पहले-सी दिखलाता, लक्ष्मी बाबू के सामने अपने चेहरे में पहले की तरह ही मुस्किराहट और उमंग लाने की कोशिश करता, लेकिन उसके दिल की कली में कोई कीट घुस चुका था, जो धीरे-धीरे उसे खाए जा रहा था।

जब घड़ी ग़ायब हुई—उसने मान लिया, अब उसकी खैर नहीं। उसने लक्ष्मी बाबू के बदले हुए रुख़ को भी भाँपा। दूसरे दिन जब वह ज़मींदारी की ओर चले, उसे समझते देर न लगी, यह असामयिक यात्रा उसी के लिये हुई है। फिर जब देखा, लक्ष्मी बाबू की आँखें सदा उसकी ओर लगी रहती हैं—सामने होने पर वे आँखें संदेह बरसाती हैं, पीछे खुफ़िया-सी दौड़ती हैं—तब से उसे निश्चय हो गया, लक्ष्मी बाबू को उसी पर शक है। अब कोशिश करके भी वह अपनी पुरानी फुर्ती, उमंग, मुस्किराहट अपने में नहीं ला पाता। दिन

में खोया-खोया-सा रहता, रात में प्रायः रोता। हाय रे उसके वे सपने! कहाँ वह दोनो बेटों को यहाँ लानेवाला था, अब उसके अपने रहने का भी ठिकाना नहीं मालूम होता।

एक रात लगातार उसकी आँखों से आँसू आते रहे—उसने आँसू रोकने की कोशिश की, सोने की कोशिश की, किंतु यह हो न सका। सबेरे बिछावन छोड़ने के पहले ही उसने तय किया—आज बाबू से खुलकर कहूँगा, उनके पैर पकड़ूँगा, अपनी निर्दोषिता उन पर सिद्ध करूँगा, और अगर उन्हें विश्वास न हो, तो उनसे माफ़ी लेकर घर चल दूँगा। जैसा तक़दीर में लिखा है, होगा। गाँव में बहुत-से लोग गुज़र कर रहे हैं, मेरी भी गुज़र हो ही जायगी। किंतु, इस तरह का निश्चय करके जब वह लक्ष्मी बाबू के सामने आया, उसकी ज़बान न खुली, हाथ न बढ़े। मानो लक्ष्मी बाबू उसकी मनःस्थिति को समझ गए हों—उन्होंने झट उसे कोई ऐसे कामों में लगा दिया कि दिन-भर उसे फ़ुरसत ही नहीं मिल सकी। सोने के पहले जब वह उन्हें दूध पिलाने गया था, उसने सोचा था, इस वक़्त कहूँगा, पर, उसके हाथ से दूध लेकर लक्ष्मी बाबू उसके घर का हाल-चाल यों पूछने लगे, जैसे उनके दिल में कोई शक-शुबहा रह नहीं गया था। लालू ने इस बार भी चुप लगा ली—भरे घाव को खोदने में उसने कोई भलाई नहीं देखी।

और, आज यह पर्सवाली घटना! सिर्फ़ एक बार लक्ष्मी

बाबू ने उससे पूछा—"तुमने पर्स देखा ?" पर्स की बात सुनते ही लालू काँप उठा। उसे लक़वा-सा मार गया। उसकी ज़बान न खुली। जब तक वह होश में आए, लक्ष्मी बाबू वहाँ से टल चुके थे। तब से वह एकांत में जाकर रोता ही रह गया था, किसी काम से लक्ष्मी बाबू ने उसे बुलाया तक नहीं। जैसे वह उसका मुँह देखना नहीं चाहते हों, और शाम को बुलाया, तो बिदा देने के लिये।

झुटपुटा हो चला था। कहीं कोई दूसरा नौकर या लक्ष्मी बाबू के घर के लोग उसे देख न लें, इस आशंका से वह वहाँ से तीर-सा निकला। वह किसी को क्या मुँह दिखाए ? उसका कुछ निजी सामान और कपड़े थे, उनकी ओर ध्यान तक नहीं दिया। जल्द-जल्द पैर उठाता वह आगे बढ़ता गया। रास्ते में कोलाहल था। सड़कों पर आवा-जाही लगी थी। वह इस तरह जा रहा था कि कई आदमियों से धक्के लगे। आँखें थीं, लेकिन उनसे दिखाई नहीं देता था, कान थे, लेकिन कुछ सुनाई नहीं पड़ता था। दिमाग़ सूना था। पैर अभ्यास-वश आगे बढ़ रहे थे। जिनसे धक्के लगे, उन्होंने डाँटा। एक बार एक घोड़ा-गाड़ी से दबते-दबते बचा, लेकिन उसे कुछ मालूम नहीं होता। वह अनुभूति खो चुका था। भीड़-भाड़ से निकल-कर जब वह कुछ दूर निकल आया, उसने पाया, वह नदी के किनारे है। सामने पुल है, पुल पर कुछ लोग टहल रहे हैं। इसी समय एक भिखारिन वहाँ, उसके सामने, आ खड़ी

हुई। "बाबू, एक पैसा।" उसने कहा। चौंककर उसने अपने हाथ में देखा कि दस-दस रुपए के दस नोट चुटकियों से अभी दबे हैं। दसो नोट बुढ़िया के हाथ में रख दिए। बुढ़िया भौंचक! लालू ने कहा—"जा, जा, इन्हीं रुपयों से कुछ.......या.......!"

यह कहकर वह वहाँ से उठा। अंधकार घना हो चला था। जब वह पुल पर पहुँचा, वह सूना हो चला था। हाँ, दूर के घाट पर कोई वंशी बजा रहा था, उसका दर्दीला स्वर सुनाई पड़ता था। एक क्षण वह ठहर गया। आसमान की ओर देखा, एक तारा पश्चिम की ओर झिलमिल कर रहा था। नीचे पानी की ओर देखा, एक मछली उछली, और छप-सा शब्द हुआ। "या गंगा मैया, अब तुम्हारी ही शरण....।"

वह पुल पर से उछला। छप-सा शब्द, फिर लहरों की वही कलकल-कुलकुल।

पश्चिम का तारा मुस्किरा रहा था।'

कहीं धूप, कहीं छाया

[१]

बाबू साहब की बेटी की शादी है। उनके घर की सरगर्मी का क्या कहना ? किंतु उससे भी ज्यादा सरगर्मी समूचे गाँव में है। गाँव ही क्यों, उनकी ज़मींदारी-भर के गाँवों में एक हलचल-सी देख पड़ती है।

बढ़ई बुलाए गए, और उन्हें आज्ञा हुई कि इतने पलँग, इतनी कुर्सियाँ, इतनी बेंचें आदि तैयार करो; पुराने फ़र-

नौचर की मरम्मत अलग। कुम्हारों को हुक्म मिला कि इतनी हाँड़ियाँ, इतने घड़े, इतनी तश्तरियाँ और इतने आबख़ोरे बनाकर ड्योढ़ी पर हाज़िर करो। छोटी जातियों के सछूत लोगों के दरवाज़े पर धान के बोरे 'चिउड़ा' कूटने के लिये रखवा दिए गए; अछूत भी न बचे; दाल और आटे के लिये अरहर और गेहूँ के बोरे उनके आँगनों में फेकवा दिए गए। तँबोली से पान की और तेली से तेल की फ़रमाइश हुई। लोहार से तंबू-शामियाने के लिये खूँटे और मोखियाँ तैयार करने तथा जलाने के लिये प्रचुर परिमाण में चैला चीरने की ताक़ीद कर दी गई। राज को बुलाकर ड्योढ़ी की दीवारों की मरम्मत और उन पर सफ़ेदी करने का आदेश हुआ। ग्वालों तथा गाय-भैंस पालनेवाले दूसरे लोगों पर दही और घी के लिये फ़रमान निकले। इस तरह, जो जिस योग्य था, उसके सिर पर वैसा बोझ लादा गया—किंतु लादा गया सबके सिर पर कुछ-न-कुछ ज़रूर। बाबू की बेटी का ब्याह है या ठट्ठा?

फिर गाँवों की सरगर्मी और हलचल का क्या पूछना?

एक पहर रात से ही मूसलों की धम्म-धम्म और चक्कियों की घर्र-घर्र से—जिनमें कभी-कभी काँच की चूड़ियों की खन्-खन् और काँसे के कड़ों की टन्-टन् भी मिली होती थी—सारा गाँव मुखरित हो उठता। कुम्हार की चाक अविरल गति से नृत्य करती, जिस पर उसकी थाप अपने थप्-थप् शब्द

से ताल-सी देती रहती। बढ़ई के बसूले की खट् खट् और लोहार की कुल्हाड़ी के ठायँ ठायँ की कर्ण-कटुता को तेली के कोल्हू का चर्र-चों और ग्वाले के मटके का घर्र-घों बहुत अंशों में स्निग्ध और मधुर बनाने की चेष्टा करता। बाबू साहब की ड्योढ़ी से सटे एक कमरे में, दर्ज़ी की सिंगर मशीन हरहराती रहती; दूसरी तरफ़ सोनार की हथौड़ी-छेनी खुट-खुट करती हुई सोने और चाँदी की निर्जीवता में सजीव चित्रण करने का प्रयत्न करती। राज की कन्नी भी खरखराती ही रहती। कहाँ तक गिनाया जाय, सारे गाँव का वायुमंडल नाना प्रकार के शब्दों से आंदोलित और प्रकंपित रहता।

कोई दौड़ा हुआ तंबू और शामियाने की मँगनी को जा रहा है, तो कोई कहा से इत्रदान और गुलाबपाश के गंगा-जमुनी जोड़े ला रहा है। बाजेवाले और आतिश-बाज़ीवाले—सबको साइयाँ दी जा रही हैं। पुराने तालाबों की मरम्मत हो रही है; कुओं का कीचड़ निकाला जा रहा है; टूटी सड़कें दुरुस्त की जा रही हैं; बाग़ों के गड्ढे-सड्ढे भर-भराकर, घास-फूस छील-छालकर, उन्हें साफ़-सुथरा बनाया जा रहा है। क्यों न हो? इतनी बड़ी बारात आनेवाली है, उसके आराम-चैन के लिये इतना भी न किया जाय?

बाबू साहब के घर में भी सरगर्मी है—बाबू साहब बारात

ठहराने, खिलाने-पिलाने, दहेज देने आदि की स्कीमें बनाने में तल्लीन हैं; और उनकी श्रीमतीजी अपने दामाद को नाना तरह के उपहार और अपनी बेटी को अच्छी बिदाई देने का प्रबंध कर रही हैं। यों बाबू साहब के घर की सरगर्मी कुछ कम नहीं है; किंतु उनके घर की सरगर्मी और इन गाँवों की सरगर्मी में कितना अंतर है! ऊपर की सूरत-शकल मिलने पर भी अंदर में—हृदय—में कितना भेद है। एक तरफ़ उल्लास है, आनंद है, मनुहार है—दूसरी ओर लाचारी है, बेबसी है, बेगारी है!

[२]

मखना—मातृभक्त मखना अपनी बीमार मा के सिरहाने बैठा अनवरत पंखा झलता और जब-तब मा को उसकी अपनी करनी के लिये कोस रहा था कि किसी ने बाहर से पुकारा—"मखना! ओ मखना! मखना रे—सुनता नहीं है? घर से बाहर आता है कि........"

मखना की मा आज चार-पाँच दिनों से बीमार है। बीमार तो सभी पड़ते हैं, किंतु इस बीमारी को, मखना की समझ में, उसकी मा ने स्वयं निमंत्रण देकर बुलाया है, इस-लिये सब सेवा करता हुआ भी झल्लाया हुआ था।

बात यह थी कि एक दिन बाबू साहब का सिपाही एक मज़दूर के सिर पर एक बोरा धान लिए पहुँचा, और फ़र-मान सुनाया कि आठ दिन के अंदर इसका चिउड़ा कूटकर

ड्योढ़ी पर पहुँचाना होगा। डेढ़ मन धान है, एक मन चिउड़ा होना चाहिए, तौल में कमी हुई, तो ख़ैर नहीं; चिउड़ा पतला हो; कन-भूसा ज़रा भी रहेगा, तो अच्छा न होगा। इतना कह, बोरा पटकवा, सिपाही चलता बना। वह कुछ सुनने-सुनाने को राज़ी न था—मालिक की ऐसी ही मर्ज़ी थी।

मखना भी बड़ा जीवट का आदमी था। पुष्ट शरीर पर कुश्ती ने और भी मद लाद दिया था। वह डेढ़ मन के बोरे को अकेले सिर पर रख बाबू की ड्योढ़ी की ओर चल पड़ा।

"अंधेर है—दिन-भर बेगारी करते-करते मरा जा रहा हूँ; न खाना, न दाना; आज यहाँ जाओ, कल वहाँ जाओ; आज यह करो, कल वह करो। बाप रे, गाँव-भर परेशान है। यह शादी क्या हुई, हम लोगों की जान साँसत में आ गई। अब यह चिउड़ा!—मेरी स्त्री नैहर चली गई, मा बुड्ढी और बीमार है, कौन कूटेगा?—उहँ, यह न होगा; अपनी मा के गले में खुद फाँसी न लगाऊँगा, न लगने दूँगा, नहीं-नहीं, मुझी को मार डालें! यह उनकी बेटी है कि मेरा काल। एक दिन तो मरना ही है—इसी यज्ञ में सही ।"

यों ही मन-ही-मन बरबराता जा रहा था कि पीछे से मा ने आकर उसके पैर पकड़ लिए। वह जानती थीं कि इस धान के लौटाने का क्या नतीजा होगा! आज ही बेटे से उसको हाथ

धोना पड़ेगा। मातृ-ममता उमड़ चली। आँगन से दौड़ी और आकर बेटे का पैर पकड़ बैठी।

मा को इस प्रकार पैर पकड़ते देख वह सन्न हो गया। कुछ देर तक पत्थर की मूर्ति-सा अचल खड़ा रहा। फिर बोला—"तू क्या करती है, पगली! मुझे जाने दे; मुझसे जितना बेगार करावें, मैं तुझे मरने न दूँगा।"

"इसमें मरना कहाँ है बेटा? बस, एक मन तो कूटना है। एक पसेरी भी कर लूँगी, तो आठ दिन में ख़तम।"

"बड़ी ख़तम करनेवाली बनी है। एक वक्त रसोई बनानी पड़ती है, तो दम फूलता है, चिल्लाने लगती है कि बहू को बुला, बहू को बुला ला; और इन्हीं से चिउड़ा कूटा जायगा? नहीं, मैं विना लौटाए नहीं छोड़ूँगा—ज़मींदार हैं, तो अपने घर के; बेगार लेंगे या खाल खींचेंगे......"

बुढ़िया ने ठुड्डी पकड़ ली—"ऐसा न कहो बेटा! बाबू की बेटी तो मेरी भी बेटी ठहरी; क्या अपनी बेटी के ब्याह में मैं इतना भी न कर सकूँगी? मुनिया के ब्याह में तो अकेले ढाई मन चिउड़ा मैंने कूट लिया था। उस समय कहाँ थी तुम्हारी बहू? जैसी मुनिया मेरी बेटी, वैसी बाबू की बेटी भी मेरी बेटी। चल, मेरे लल्ला, लौट.........." आदि नाना प्रकार के तर्क-वितर्क और आरज़ू-मिन्नत के द्वारा वह मखना को लौटा लाई।

किंतु लौटा लाना जितना आसान था, धान को चिउड़ा

बनाना उतना आसान न था। तो भी लग पड़ी। ईंधन नहीं था, बग़ीचे से पत्ते बटोर लाई। कुम्हार से कह-सुनकर एक खपड़ी माँग लाई। अब अकेले तारना, भाड़ना, घानी करना और कूटना। कभी चूल्हे-खपड़ी से झगड़ती, कभी ओखल-मूसल से युद्ध करती। बुढ़ापे का शरीर, थोड़ी ही देर में उँगलियाँ ऐंठने लगतीं, हाथ झनझना उठते। किंतु तो भी वह डटी रहती। बेगार से फ़ुर्सत पा, जब कभी मखना घर आता, तो इस प्रकार हँसकर बतियाती, मानो आसानी से सब काम संपन्न हो रहे हैं। मखना को भी अचरज होता। ख़ैर, किसी प्रकार अपने पर अत्याचार कर और मखना को धोखे में रख उसने चिउड़ा तैयार कर दिया। मखना भी उसे ड्योढ़ी पर तौलवाकर कुछ निश्चित-सा हुआ।

किंतु मखना की मा अपने बेटे को धोखे में डालकर भी प्रकृति को धोखा न दे सकी। अब प्रकृति ने अपने नियम के व्यतिक्रम का दंड चुकाना आरंभ किया। मखना की मा बीमार पड़ी। चार-पाँच दिनों से वह शय्या पर बेहोश-सी पड़ी थी। अंग-अंग टूट रहे थे, बुख़ार उतरने का नाम ही नहीं लेता था; किंतु ज्यों ही आज थोड़ा बुख़ार घटा कि मखना को शांत करने की कोशिश करने लगी। वह बताना चाहती थी कि बीमारी स्वभावतः हुई है, चिउड़ा कूटने के सबब से नहीं; किंतु मखना को अब धोखे में नहीं डाला जा सकता था। झल्ला-झल्लाकर मा को कोसता; कहता—

"कर अब बेटी का ब्याह! कहाँ है बेटी? क्यों नहीं आकर दवा-दारू करती? धनी की बेटी ग़रीबों की मौत होती है! वह बिना खाए तुझे न छोड़ेगी—हाँ, तू भी मरेगी, मैं भी मरूँगा। मैं तुझे अकेले मरने न दूँगा। समझी? मर तो..."

इसी प्रकार की झल्लाहट के बीच मखना के कानों में उपर्युक्त पुकार की आवाज़ पहुँची। बोली से ही वह पहचान गया कि बाबू साहब का सिपाही है। ऐसे श्रुति-मधुर शब्द दूसरे किसके मुँह से निकल सकते थे? भर्राई हुई आवाज़ में इसने भी जवाब दिया—"मैं नहीं जाता; मेरी मा बीमार है..."

"तुम्हारी मा बीमार है, तो क्या इसलिये बाबू साहब की बेटी का ब्याह रुक जायगा? चल, भरथुआ चौर से पुरइन के पत्ते लाना है; शाम तक लौट आएगा; चलता है।"

"नहीं चलता। बाबू साहब की बेटी का ब्याह नहीं रुकता, तो क्या मैं किसी की बेटी के लिये अपनी मा को मार दूँ। जाओ, इसको दूसरा कोई देखनेवाला नहीं है, मैं नहीं जाता...."

इस सूखे कथन को इस रूखे ढंग से कहा गया था कि सिपाही दाँत पीसता हुआ ड्योढ़ी की ओर चल पड़ा।

[३]

ड्योढ़ी पर आकर सिपाही ने एक की दस-बीस बनाकर

सुनाई। मुंशीजी—बाबू साहब के कारबार के एकमात्र कर्ता-धर्ता मुंशीजी—क्रोध से आग-बबूला हो गए, और "पाँच सिपाही जाकर, टाँग-टूँगकर उस हरामज़ादे को ले आओ—" यह हुक्म निकालनेवाले ही थे कि रामधनी मुखिया बीच में पड़ गए। उन्होंने मुंशीजी को बहुत तरह से समझाया—"मखना अभी लड़का है, गदेला है; उसका बाप मनोहर ड्योढ़ी का वफ़ादार असामी था। मखना भी सदा बेगार करता रहा है; सचमुच उसकी मा बीमार है, तो भी उसने ऐसा नहीं कहा होगा, शायद सिपाहीजी को सुनने में धोखा हुआ है। मैं अभी जाकर बुला लाता हूँ.."

रामधनी वृद्ध थे, गाँव के मुखिया थे, मुंशीजी ने उनकी बात मान ली। रामधनी अपनी लाठी टेकते मखना के घर आए, बहुत समझाया। मा ने भी आजिज़ी प्रकट की। ख़ैर, मखना राज़ी हो गया, और ड्योढ़ी पर आया। रामधनी साथ थे। उन्होंने मखना को रास्ते में ही समझा दिया था कि तुम वहाँ कुछ नहीं बोलना; जो हुक्म हो, चुपचाप मान लेना। मखना भी यह निश्चय करके आया था; किंतु यहाँ तो कुछ दूसरा ही होना था।

मुंशीजी के सामने एक हट्टा-कट्टा नौजवान खड़ा था। उसकी चौड़ी छाती, मांसल बाहों और भरे चेहरे को देखकर मुंशीजी को आनंद नहीं हुआ। जो एक धनी के लिये गुण है, ग़रीब के लिये घोर अवगुण। कौन नहीं जानता कि जब

कहीं चोरी होती या डाके पड़ते हैं, तो दारोगाजी आस-पास के ऐसे नौजवानों को ही पहले पकड़ते हैं, जो गरीब होकर भी हट्टे-कट्टे होते हैं। मुंशीजी ने मखना को देखते ही समझ लिया कि यह जरूर बदमाश होगा। रुखाई से पूछा—"हुँ, क्या तुम्हारा ही नाम मखना है ?"

मखना ने सिर हिलाकर जवाब दिया। मुंशीजी बोले—"बोलता क्यों नहीं बे, क्या गूँगा है ? क्या सचमुच तूने कहा था कि मैं नहीं जाता ?"

मखना ने स्वाभाविक स्वर में कहा—"जी हाँ।"

"जी हाँ।"—मुंशीजी का क्रोध ज्वालामुखी-सा एकाएक भड़क गया। बोलते गए—"जी हाँ कहता है ? बदमाश, पाजी। क्यों तुमने ऐसा कहा ?"

"सरकार, भैया बीमार ..."

"तेरी ... ..."

बस, मुंशीजी ने एक ही साँस में कितनी ही गालियों की गोलियाँ दनादन बरसा दीं। मुंशीजी बकते चले जा रहे थे, इधर मखना अवाक् खड़ा था, वह सुनते ही सन्न हो गया। एक बार उसने रामधनी की ओर घूरकर देखा, मानो उसकी आँखें कह रही हों—रामधनी चाचा, तुम्हीं आज मुझे बेइज्जत करवा रहे हो। फिर उसने अपनी प्रज्वलित आँखों को मुंशीजी की ओर करके कहा—"मुंशीजी, कहे देता हूँ, गालियाँ मत बकिए..."

"गालियाँ मत बकिए ! बकूँगा, तो क्या होगा ?बल, बोल, बोल तेरी...."

मखना के कानों ने सुना, उसकी मा को न-जाने क्या-क्या गंदी गालियाँ दी जा रही हैं। उसका हृदय चलनी हो गया। उसके गरम मस्तिष्क से विचार-शक्ति भाप बनकर उड़-सी गई। वह कहाँ है, यहाँ क्या हो सकता है—आदि बातों के सोचने की बुद्धि ही उसमें न रह गई। वह पागल-सा हो उठा ! बिजली-सा कड़ककर बोला—"गालियाँ रोकिए, रोकिए, नहीं तो ..."

"नहीं तो—नहीं तो—नहीं तो क्या ...क्या होगा ? बोल पाजी।"

यह कहते हुए स्वयं बाबू साहब अपने कमरे से निकले। वह भीतर दालान के कमरे में थे, ओसारे पर मुंशीजी बैठे थे। मखना ओसारे के नीचे आँगन में खड़ा था। कमरे से निकलकर बाज़ की तरह वह मखना की ओर झपटे। पैर में खड़ाऊँ थी। जाते ही उसे उतारकर उसके सिर पर तड़ातड़ मारने लगे।

बाबू साहब का आना और मारना पलक मारते हुआ। मखना नहीं जानता था कि बाबू साहब भीतर बैठे सब सुन रहे हैं। शायद रामधनी वग़ैरा भी नहीं जानते थे। बाबू साहब को देखते ही वह स्तंभित-सा हो गया। यहाँ तक कि दो तीन खड़ाऊँ खोपड़ी पर पड़ने पर भी वह अचल खड़ा

था; किंतु जब सिर से लहू की बूँदें टप-टप करके टपकने और उसके कपाल-गाल आदि को भिगोती हुई जमीन पर गिरने लगीं; तब जैसे कुछ चंचल-सा हो उठा। बाबू साहब उसके एकदम निकट खड़े खड़ाऊँ मार रहे थे। इस बार ज्यों ही उन्होंने खड़ाऊँ उठाकर उसके सिर पर पटकनी चाही, त्यों ही उसने उस प्रहार को रोकने की नीयत से अपनी बाँह उस ओर बढ़ा दी। खड़ाऊँ सिर तक नहीं पहुँची, किंतु इस प्रकार रोकने से जो प्रतिघात हुआ, उसे बाबू साहब—दुर्बल-काय, शीर्ण-शरीर बाबू साहब—बर्दाश्त न कर सके। वह ढिलमिलाकर जमीन पर आ रहे। बाबू साहब को गिरते देख मखना भौंचक हो उठा। लपककर उठना ही चाहता था कि एक सिपाही ने उसके सिर पर एक ज़बरदस्त लाठी जमा दी।

फिर तो मारो-मारो का तुमुल-नाद होने लगा। दो-तीन आदमी बाबू साहब को लेकर ओसारे पर बिठा आए—क्योंकि उन्हें चोट-ओट तो आई नहीं थी, सिर्फ कमज़ोरी के कारण ज़रा लुढ़क गए थे। बाक़ी लोग—सिपाही, नौकर-अमले आदि—मखना पर प्रहार-पर-प्रहार करने लगे। लाठी, छड़ी जूते, लात, सबका विपुल प्रयोग किया जा रहा था।

लाठी-छड़ी, लात-जूते इन सबका विपुल प्रयोग किया ही जा रहा था कि इतने में उन्हीं में से एक आदमी चिल्ला

उठा—"मर गया ! मर गया !!" रामधनी अलग खड़े बग़ल से यह सब देख रहे थे। 'मर गया,' यह आवाज़ सुनते ही दौड़े, और मखना के शरीर पर लेट गए। इनके लेटने और 'कहीं मर न गया हो, फिर तो कल से ही सुपरडंट, निस्पिट्टर और दरोगा धावा बोल देंगे' इस आशंका के कारण भी यह प्रयोग-प्रकरण जहाँ-का-तहाँ रोक दिया गया।

मखना का क्षत-विक्षत शरीर निर्जीव-सा पड़ा है। उस जगह की ज़मीन ख़ून से रँग गई है। खोपड़ी एक जगह फट गई है, जिससे रक्त का अविरल प्रवाह चल रहा है। नाक और मुँह से भी ख़ून निकल रहा है। जहाँ एक मिनट पहले एक हट्टा-कट्टा नौजवान था, वहाँ अब मांस का एक लोथड़ा-सा पड़ा है। रामधनी कभी उसकी नाक दबाते और कभी मुँह में पानी देने की चेष्टा करते हैं। बाबू साहब तो अपने कमरे में पलँग पर जा लेटे हैं, जहाँ उन पर पंखा झला जा रहा है। किंतु मुंशीजी इस घटना के गुरुत्व को—'कहीं मर गया, तो पुलिस के द्वारा कितनी परेशानियाँ उठानी पड़ेंगी,' इस बात को—समझकर वहाँ खड़े उसे होश में लाने के लिये नाना तरह के उपचार बता रहे हैं। जिन निर्दय हाथों ने निष्ठुर प्रहार किए थे, वे अब कृत्रिम उपचार में लगे हैं। शायद तड़पने का तमाशा देखने के लिये !

[४]

चार दिनों से समूचे गाँव में धूमधड़का मचा हुआ है।

बाबू साहब की बेटी के ब्याह की बारात आई है। ऐसी बारात इस जवार में कभी नहीं आई। गाँव के बुड्ढे, जवान, बच्चे, स्त्रियाँ, लड़कियाँ सब बारात देखने में मग्न हैं। दूर-दूर के गाँवों से भी लोग दर्शक-रूप में आते-जाते रहते हैं।

हाथी, घोड़े, मोटर, बग्घी आदि की क्या गिनती ? नाच-गान का बाज़ार दिन-रात गरम रहता। रात में थिएटर होता, आतशबाज़ियाँ छूटतीं ; हा हा, ही-ही, हू-हू से दिगंत आंदोलित रहता।

खाने-पीने की भरपूर व्यवस्था है। चिउड़ा-दही की कौन बात, दिन-रात गरमागरम पूड़ियाँ-कचौड़ियाँ उड़ती रहतीं। नाना तरह की मिठाइयों की सुगंध से तमाशबीनों की नाक भरी रहती, खानेवालों की जीभ की हालत का क्या वर्णन किया जाय !

बाबू साहब की उमंग को क्या कहना ? मुंशीजी के पैर तो ज़मीन पर पड़ते नहीं। यदि बाबू साहब इस महाभारत के दुर्योधन थे, तो मुंशीजी शकुनि। नौकर-चाकर सभी रंगीन कपड़े पहने उड़ते-से देख पड़ते।

बाबू साहब के महल में संगीत की गंगा-जमुना तरंगें ले रही हैं। सास ख़ुश हैं—योग्य दामाद पाकर ; सरहज ख़ुश हैं—सुघड़ ननदोई देखकर ; और सालियाँ व्यस्त हैं योग्य बहनोई पाकर।

चारो ओर मस्ती, आनंद, उन्माद-उल्लास का समुद्र लहरा रहा है।

किंतु गाँव में एक ऐसा भी घर है, जहाँ इस समय एक दूसरा ही समुद्र अपना तूफ़ानी रूप दिखला रहा है—न-जाने यह किस की भरी नाव डुबाएगा !

मखना उस दिन मरा नहीं, किंतु जी गया घुल-घुलकर मरने के लिये। जब कुछ उपचार के बाद उसे होश आया, रामधनी उसे उठाकर उसके घर ले गए। निस्संदेह चलते समय मुंशीजी ने चाँदी के कुछ चमचमाते टुकड़े रामधनी के हाथ में रख दिए कि इससे इसकी दवा-दारू करना, किंतु रामधनी ने विनय-पूर्वक उसे अस्वीकार कर दिया। कहा—"सरकार अभी मेरे पास कुछ पैसे हैं, ज़रूरत पड़ेगी, तो ड्योढ़ी पर हाज़िर होऊँगा।' वह अनुभवी थे, जानते थे; ये रुपए उदारता-बश नहीं दिए जा रहे हैं, वरन् जिसमें किसी तरह पुलिस को ख़बर न लगे, इसके लिये यह घूस मिल रही है।

बेटे की यह हालत देखकर मा की क्या हालत हुई होगी, कल्पना कीजिए! पहले तो वह चीख़ उठी। किंतु तुरंत ही अपने को ज़ब्त कर वह बेटे की सेवा-शुश्रूषा में लग गई। न-मालूम उसकी बीमारी कहाँ चली गई ? न-जाने उसमें यह शक्ति कहाँ से आ गई ?

गाँव के दो-चार नवयुवकों ने थाने में ख़बर देने की चर्चा की, किंतु बूढ़ों ने डाँट दिया। बाबू साहब से मुक़दमे

में कौन जीतेगा; फिर, मुक़द्दमे के लिये रुपए भी तो चाहिए।

इस दुस्संवाद को सुनकर मखना की पत्नी भी आ गई है। दोनो सास-पतोह दिन-रात परिचर्या में लगी हैं। रामधनी भी वहीं बैठे रहते हैं।

देहात में परिचर्या ही क्या? कुछ लोगों ने अस्पताल में ले जाने की बात चलाई, किंतु इसकी ख़बर ज्यों ही ड्योढ़ी पर पहुँची कि बाबू साहब ने ख़ुद रामधनी को बुलाकर डाँट दिया। अस्पताल में जाने से पुलिस पर भेद खुल जाने का डर था। मखना की हालत दिन-दिन ख़राब होती गई।

वह दिन-रात कराहता रहता। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए, पीड़ा घुलती गई, कराहना बढ़ता गया। उसके अंग-अंग कचाटते रहते; रह-रहकर टीस उठती—मानो सैकड़ों सुइयाँ एक साथ चुभोई जा रही हैं। सदा बुख़ार—ज़ोरों का बुख़ार—बना रहता। वह प्राय: बेहोश ही रहता। वह बेहोशी में अंटसंट बका करता— मैया......चिउड़ा...... सिपाही........ मुंशीजी...... तेरी बाबू साहब...खड़ाऊँ मारो-मारो, रामधनी चाचा—बस, इन्हीं कुछ शब्दों के इर्द-गिर्द उलटा-पुलटा उसका बकना होता। कभी हँसता, कभी रोता, कभी उत्तेजित होकर खड़े होने की कोशिश करता। तीनो प्राणी सँभाल के रखते और रोते—पत्नी रोती, मा रोती और रोते रामधनी चाचा।

किंतु आज अकस्मात् मखना की हालत अच्छी देखी गई। न वैसी कराह है, न छटपटी। थोड़ी चेतनता के चिह्न भी देख पड़े। बुखार कुछ उतर गया था। रात उसे नींद भी आई। भोर में ज्यों ही उसने आँखें खोलीं, मा ने उत्सुकता-पूर्वक हौले से पूछा—"बेटा जी अच्छा है न ?"

मखना ने सिर हिलाकर हाँ की सूचना दी। मा जैसे निहाल हो गई। आनंद से उसकी आँखें चमकने लगीं, जिनके कोने पर पानी की कुछ बूँदें डबडबा आईं। फिर मखना ने जैसे कुछ बोलने का प्रयत्न किया—किंतु बोल न सका। बेचैनी की एक रेखा-सी उसके ललाट पर खिंच आई। मा इसको ताड़ गई। कुछ पूछना ही चाहती थी कि मखना ने इशारे से पानी पिला देने का भाव जतलाया। मा ने अस्त-व्यस्त होकर बहू से पानी लाने को कहा। बहू ने झटपट पीतल के एक कटोरे में औटा हुआ पानी लेकर सास के हाथ में दे दिया। मा ने सोए-सोए ही पानी पिला देना चाहा। किंतु, मखना ने उठाकर पिलाने का संकेत किया। सास-बहू ने मिलकर यत्न से उठाया—रामधनी बाहर गए थे। उठाकर ज्यों ही उसके मुँह से कटोरा लगाया कि मखना को जोर से हिचकी आई। एक ..दो......तीन। तीसरी हिचकी के साथ-ही-साथ उसके मुँह से जमे हुए खून का एक लोंदा नीचे गिर गया। उस लोंदे को देखते ही सास-बहू अधीर हो गईं। मा सिस-कियाँ भरती हुई 'बेटा-बेटा' कह ही रही थी कि इधर बेटे

की आँखें उलट गईं। वह लुढ़ककर उसकी गोद में गिर पड़ा।

आज बाबू साहब की बेटी की बारात वापस जानेवाली है। रात से ही महफ़िल जमी है, जो भोर तक भी खतम नहीं हुई। रंग-गुलाब उड़ रहे हैं, गुलाब-इत्र का छिड़काव हो रहा है, पान-इलायची कचरे जा रहे हैं। समधी-समध मिल रहे हैं—हा-हा, ही-ही का बाज़ार गर्म है। नाच-गान का समा बँधा है—हँसी-दिल्लगी के फ़व्वारे छूट रहे हैं। समूचा गाँव इस उत्सव-तरंग में डुबकियाँ ले रहा है। इसी गाँव में, इसी समय एक घर में, इसी बारात के चलते, जो एक प्रलय-दृश्य उपस्थित है, उसकी ओर कौन ध्यान दे?

जुलेख़ा पुकार रही है

[१]

दो दिनों तक राँची की ठंटी हवा से दिमाग़ मुअत्तर करने के बाद सोचा, क्यों न घर लौटने के पहले ज़रा उस जगह को भी देख लूँ, जहाँ हिंदुस्थान-भर के बद-दिमाग़ों की बस्ती वसाई गई है? मेरा मतलब कांके से था। फिर क्या, अपना बोरिया-बँधना सँभाल वहाँ जा पहुँचा। जब पागलख़ाना

देखने के लिये टिकट पाने की दौड़-धूप में था, तब पता चला, मेरा पुराना क्लास-फ्रेंड हसीब ही उस पागलखाने का इन दिनों डिप्टी-सुपरिंटेंडेंट है। हसीब उसी पुराने प्रेम से मिला। हाथ मिलाने से ही उसे तसल्ली नहीं हुई, वह मुझसे भरपूर लिपट गया। खादी के धूमिल कुर्ते से टपाटप सूट का वह गाढ़ालिंगन देखने ही लायक़ था।

हसीब ने बड़े प्रेम और चाव से मुझे पागलखाना दिखलाया, फिर अपने बँगले में ही ठहराया। जब हम खाना खा रहे थे, मैंने कहा—"हसीब, तुमने यह क्या नौकरी पसंद की। यह तो सुना था, तुमने डॉक्टरी लाइन पकड़ी है, लेकिन मैंने यह सपने में भी नहीं सोचा था कि तुम्हारा तूफ़ान मेल यहाँ आ लगेगा।"

यह कहते समय निस्संदेह मेरे दिमाग़ पर पागलखाने के दयनीय और बीभत्स दृश्यों का बोझ था। किंतु, हसीब ने अपने हँसमुख चेहरे से, मानो मेरे इस बोझ को हलका करने के लिये ही, दिल्लगी के स्वर में कहा—"और मैंने भी यह नहीं सोचा था कि तुम वकील बनने की साध लिए एक दिन क़ौम के फ़क़ीर बन जाओगे। अरे यार, यह दुनिया है—यहाँ आदमी सोचता कुछ और है, और हो जाता कुछ और है।"

खाने-पीने के बाद कुछ इधर-उधर की गप-शप चली। हम दोनो यार बहुत दिनों पर मिले थे। बहुत-सी बातें करनी थीं। हसीब खोद-खोदकर पूछता भी था। लेकिन, मेरा दिमाग़ तो

जसे पागलों में बसा था—"उफ़्, आदमी क्या से क्या हो जाता है !" मैं यह सोचता और मुँह से उसके सवालों का हाँ-ना जवाब दिए जाता। आखिर मैंने उसका ध्यान भी इस ओर केंद्रित किया। एक-दो बार उसने बातें टालने की कोशिश भी कीं, किंतु मेरी अज़हद दिलचस्पी देखकर वह इस ओर रुजू हुआ, और बोला—

"मेरे दोस्त, पागलों से दिलचस्पी तो सब लोग रखते हैं, लेकिन भीतर, तह तक, जाने की कोशिश कौन करता है ? उन्हें तरह-तरह के स्वाँग भरते, तरह-तरह की भावभंगी दिखाते, तरह-तरह की अजीबोग़रीब हरकतें करते देखकर लोग हँसते हैं, मन बहलाते हैं, दो घड़ी की दिलबस्तगी कर लेते हैं और इस दिलबस्तगी और मन-बहलाव के लिये कुछ खर्च करने को भी तैयार हो जाते हैं। सिर्फ़ तुम्हीं नहीं आए, बहुत-से लोग यहाँ हमेशा आते ही रहते हैं। यह पागलखाना क्या हुआ, चिड़िया-घर हो गया ; अलीपुर न देखा, कांके देखा। ये आदमी नहीं, चिड़िया-घर के चित्र-विचित्र जानवर हैं। देखो, हँसो ! वह बंदर है, ज़रा छेड़ दो ; वह शेर है, ज़रा दूर ही रहो। यही इन दर्शकों की मनःस्थिति इन पागलों के बारे में होती है। भयानक पागलों को अलग-अलग से ही देखा, और सुधुओं से दो-एक दिल्लगी कर ली, मन-भर हँस लिया ; और चल दिए। खैर, अच्छा ही है, क्योंकि अगर तह तक जाया जाय, तो हँसने के बदले इन पर रोना पड़े।

आँसुओं से मुँह धोना पड़े। क्योंकि आज तुम जिन्हें जानवर देख रहे हो, कभी वे तुम्हारी ही तरह इंसान थे—दया, ममता, ख़ुशी-ग़मीवाले इंसान ! जिन्हें आज तुम यहाँ ढूह की शकल में देख रहे हो, वे कभी सुंदर इमारतें थे—हाँ, सुंदर, मोहक ! लेकिन, अचानक ऐसे धक्के लगे कि ये अपने तो गिर ही गईं कितनों को मलबे के नीचे ले बैठीं—कितने अरमानों, और उम्मीदों को लेकर। दोस्त, पागलपन !—यह ट्रेजडी है, ट्रेजडी !

हम दोनो टेबुल के दोनो ओर कुरसियों पर आमने-सामने बैठे थे। मैंने देखा, हसीब का चेहरा यह कहते-कहते लाल हो उठा है। और, उसकी आँखों में शायद नमी भी थी, जिसे उसका चश्मा छिपाए हुए था। बात यों थी कि गो इस भटकने में वह नौकरी की ग़रज़ से ही आया था, लेकिन उसका जज़बाती दिल धीरे-धीरे पागलों की ज़िंदगी में रस लेने लगा था। पागलख़ाना उसके लिये अब सिर्फ़ रोटी का ज़रिया नहीं रह गया था, बल्कि अब वह उसका लेबोरेटरी हो चला था, जहाँ वह नए-नए प्रयोग करता, और नए-नए अनुभव प्राप्त करता। वह सिर्फ़ पागलों का डॉक्टर नहीं था, उनका हमदर्द हो चला था। मैं देख रहा था। जब वह बोल रहा था, उसकी ज़बान ही नहीं हिल रही थी, उसके दिल का तार झनझना रहा था। थोड़ी देर रुककर मानो मेरे मनोभावों को पढ़ने की चेष्टा करता हुआ वह फिर बोला—

"और पागलपन कोई शख़्सी बीमारी नहीं है, दोस्त,

यह तो एक सामाजिक रोग है। सिवा चंद खानदानी पागलों के आदमी बज़ात ख़ुद पागल नहीं होता, बल्कि पागल बना दिया जाता है। आज शाम को तुमने किसी भलेमानस को भला-चंगा देखा; वह प्यारा पति, भला बाप, नेक बेटा, सच्चा दोस्त था। एक हँसता-खेलता बिलकुल नेचुरल इंसान! लेकिन, रात में ही कुछ ऐसी घटना घटी कि रातोरात उसका चेहरा बदल गया। वह अजीब ढंग से बोलने लगा, अजीब ढंग से चलने लगा, अजीब हरकतें करने लगा। दुनिया चिल्ला उठी—वह पागल हो गया! उसे बाँधा गया, बहुत बार पीटा भी गया, फिर रो-धोकर उसकी दवा-दरू कराई गई, और जब कुछ न बन पड़ा, तो कांके के इस काँजीहॉउस में उसे डालकर निश्चित हो जाया गया। किंतु, कोई भला आदमी इस पर कुछ सोचने की तकलीफ़ गँवारा नहीं करता कि आख़िर उसकी यह दुर्गति क्यों हुई? किसने की? आग लगाकर पानी के लिये दौड़ना इसी को कहते हैं।"

इसके बाद उसने कई मिसालें पेश कीं। सुन-सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते। उसने मुझे पूरे तीन दिनों तक वहाँ रक्खा। कई पागलों को उनके इतिहास के साथ उसने मुझे दिखलाया। किन सिद्धांतों पर उनकी चिकित्सा होती है, कैसे उन्हें अच्छा किया जाता है, यह सब ब्योरे के साथ उसने बताया। अंत में, जिस दिन मैं जाने की तैयारी कर रहा

था, उसने जो एक कहानी सुनाई, और एक अजीब दृश्य दिखलाया, क्या मैं ज़िंदगी-भर उसे भूल सकूँगा ?

[२]

शाम का वक्त था। हसीब अपने बँगले में बैठा हुआ कुछ दोस्तों से गप-शप कर रहा था। उसी समय उसके चपरासी ने एक मुलाक़ाती कार्ड उसके सामने रक्खा। उस पर एक डिप्टी-कलेक्टर साहब का नाम था, वह मुसलमान थे। डिप्टी साहब को हसीब ने बुलाया। अधबयस-से आदमी, चेहरा सूखा, भर्राया। किस काम से तशरीफ़ लाए, पूछे जाने पर उनकी आँखों से झर-झर आँसू झरने लगे। बड़ी मुश्किल से कह पाए, उनका लड़का—पटना-कॉलेज का शानदार ग्रेजुएट—अचानक पागल हो गया है। बड़ी दवाएँ कीं, अच्छा नहीं हुआ। आखिरश उसे यहाँ ले आए हैं। उन्होंने सुन रक्खा, हसीब यहाँ का डिप्टी-सुपरिंटेंडेंट है। उन्हें थोड़ा धीरज हुआ। हम-मज़हब होने की वजह इस मुसीबत-ज़दे पर उसका ज़्यादा ख़याल होगा, इसी उम्मीद में उसके पास वह आए हैं। हसीब ने उनसे बीमारी का ब्योरा पूछा। उन्होंने बताया, वह कोई भयानक या गंदी हरकत नहीं करता; न गालियाँ बकता, न चीख़ता-चिल्लाता है। यों बड़ा भोला-भाला-सा रहता है, लेकिन अचानक वह चौंक उठता है, इधर-उधर कोई चीज़ खोजता है, अगर कोई चीज़ मिली, तो उसे लेकर, नहीं तो हाथों से ही वह ज़मीन खोदने लगता है। ज़मीन खोदता है,

रह-रहकर ज़मीन से कान लगाकर कुछ सुनने की कोशिश करता है, फिर खोदता है, और यदि ज़बरदस्ती पकड़ न लिया जाय, तो तब तक खोदता रहता है, जब तक बेहोश न हो जाय। उसकी उँगलियाँ घिस गई हैं, उन्हें वह खोदते-खोदते लहूलुहान कर डालता है। यह खोद-खाद वह कब शुरू करेगा, कोई ठिकाना नहीं। लोगों के पूछने पर कि क्या कर रहे हो, होठों में ही कुछ बुदबुदाता है, जो किसी की समझ में नहीं आता।

उस समय उन्हें धीरज देकर और कल रोगी को लाने को कहकर हसीब ने उनसे फ़ुरसत ली। दूसरे दिन भोर में ही बेटे को लिए वह डिप्टी साहब पहुँचे। बेटा बिलकुल नौजवान था। अभी मसें भीग रही थीं। सूखे, उदास, खोए-खोए चेहरे से भी ख़ूबसूरती टपकी पड़ती थी। बड़ी-बड़ी आँखें, जिनमें से प्रतिभा झाँकती-सी मालूम पड़ती थी। कभी वह बहुत ज़हीन रहा होगा, इसमें शक नहीं। हसीब ने उनका नाम पूछा, एक बार बड़े ग़ौर से उसने हसीब के चेहरे को देखा, फिर अपना नाम बतला दिया। कहाँ तक पढ़ा है, क्या-क्या विषय लिए थे, कॉलेज में कौन-कौन प्रोफ़ेसर थे, सबका जवाब उसने सही-सही दिया। हसीब ने समझा, मर्ज़ लाइलाज नहीं है। उसकी भर्ती पागलख़ाने में करा दी। बाप को इत्मीनान दिलाया कि वह घबराएँ नहीं, उनका लड़का ज़रूर ही अच्छा हो जायगा।

पागलों की चिकित्सा में उनकी कहानी जानना सबसे ज़रूरी

है। कुछ बात तो उसने बाप से दरियाफ्त कीं, कुछ मरीज़ से। क़िस्से से निकट का संबंध रखनेवाले और व्यक्तियों से भी कुछ बातें पूछीं-पुछवाईं। बड़ी मुश्किल से एक-एक कड़ी जुटाकर जो चीज़ बनी, वह यों थी—

डिप्टी साहब का यह एकलौता बेटा है। इसका जन्म तब हुआ था, जब डिप्टी साहब पढ़ ही रहे थे। डिप्टी साहब का परिवार साधारण हैसियत के देहाती काश्तकार का था। काश्तकारी अच्छी थी, अच्छे खाते-पीते लोग थे। डिप्टी साहब के पड़ोस में ही उनकी ही हैसियत के उनके एक लँगोटिया यार थे। दोनो की बीवियों में भी खासी दोस्ती गँठ गई थी। डिप्टी साहब के इस बच्चे के जन्म के चार साल बाद उनके दोस्त के एक लड़की हुई। दोनो बीवियों ने हँसी-हँसी में तय कर लिया कि इन दोनो की परसाल शादी होगी। दोनो यारों ने यह खबर सुनकर एक रोज़ के ठहाके में स्वीकृति दे दी।

दिन बीतने लगे। डिप्टी साहब बी० ए० करके सब-डिप्टी फिर पूरे डिप्टी बन गए, लेकिन उनके यार देहात के ही काश्तकार बने रहे। दोनो के बच्चे भी बढ़े। जब दोनो को होश हुआ, उन्हें खबर लगी, दोनो का ब्याह पहले से ही तय है। लड़की शुरू से ही शरम करने लगी; बच्चा बचपन से ही उसे छेड़ने लगा। दोनो की जोड़ी जैसे खुदा ने खुद बनाकर भेजी हो। दोनो से खूबसूरती चुई पड़ती। बच्चे का नाम था सलीम, बच्ची का जुलेखा।

सलीम लोअर, अपर, मिडिल देहात में ही करके अपने डिप्टी बाप के साथ शहर में रहने लगा। जुलेखा घर पर ही उर्दू लिखना-पढ़ना सीखकर सिलाई-बुनाई में कलाकारी हासिल करने लगी।

सलीम की मा घर पर ही रहती। तब वह ज़माना न था, जब डिप्टी साहब लोग अपनी मेम साहब को साथ रखते। पुराने रीति-रिवाज़ का दौरदौरा था। छुट्टियों में डिप्टी साहब आते, उनका यह एकलौता लड़का आता; जिसके देखने के लिये उसकी मा छटपट किए रहती। इस लड़के के बाद उस बेचारी के एक बच्ची हुई, जो मर गई। तब से कोई बच्चा नहीं हुआ। फलतः उसका ध्यान अपने इस बच्चे पर ही हमेशा टँगा रहता। गाव के नजदीक मिडिल तक स्कूल था, तब तक उसने अपने इस प्यारे बेटे को आँखों से ओझल नहीं होने दिया था, लेकिन अब तो लाचारी थी। लड़के का पढ़ना लिखना ज़रूरी था। उसे अलग करना पड़ा, लेकिन छुट्टी होने पर अगर उसके पहुँचने में एकआध दिन की देर हो जाती, वह छटपट करने लगती।

छुट्टी में जब सलीम आता, शहर की कुछ दिलचस्प सौगात जुलेखा के लिये ज़रूर लाता! जुलेखा उसके लिये रूमाल, तकिए का खोल, टेबुल-कॉल्थ आदि पर कुछ बेल-बूटे काढ़कर तैयार रखती।

जब सलीम फिर पढ़ने चला जाता, उसकी मा जुलेखा

को प्रायः अपने ही घर पर रखती, और उसे तरह-तरह की दस्तकारी और घरेलू काम-काज सिखाती। जुलेखा कभी उसके घर को बसाएगी, वह अभी से उसे तालीम देकर क्यों न योग्य पतोहू और चतुर गृहिणी बनाकर रक्खे ?

धीरे-धीरे सलीम कॉलेज में गया, मूछ पर ज़रा-सी काली रेखाएँ आने लगीं। उसकी मा सोचने लगी, अब जल्द शादी कर दी जाय। जुलेखा की मा भी यही चाहती थी। लेकिन, डिप्टी साहब टालते गए। उनका कहना था, कम-से-कम लड़के को ग्रेजुएट होने दो, शादी हो जायगी। तयशुदा बात है, जल्दी क्या है ? मा कहती, तुम्हारी शादी तो पहले हो चुकी थी, तो भी तुम पढ़ते रहे, बी० ए० किया, डिप्टी हुए। शादी हो जाने दो, मुझे अकेले घर नहीं सुहाता। डिप्टी साहब हँसकर कहते—"पतोहू को घर में तो पहले से ही रख लिया है, अब ज़ाब्तगी की ही तो देर है, घबराहट क्या है ?" मा इस झाँसे-पट्टी में नहीं आती, वह जवाब देती, इसी से तो और भी कहती हूँ कि जल्द शादी हो जानी चाहिए। जिसको इतना नज़दीक रखती हूँ, उसमें ज़रा भी परायापन महसूस करूँ, यह बरदाश्त नहीं होता। लेकिन, डिप्टी साहब की मर्ज़ी तो सबसे ऊपर थी। बात टलती ही जाती। जुलेखा और सलीम के कानों में भी ये बातें पड़तीं। जुलेखा शर्म से गड़ी जाती, सलीम दिन में सपने देखता।

किंतु, कैसे अफ़सोस की बात—मा बेटे की शादी का अरमान लिए ही अचानक चल बसी। गाँव में हैज़ा फैला था, वह भी बीमार पड़ी, और जब तक डिप्टी साहब या सलीम पहुँचे, वह साँस तोड़ चुकी थी।

डिप्टी साहब अब छुट्टियों में घर कम आते, बाद में तो आना ही छोड़ दिया। सलीम चाहकर भी छोटी छुट्टियों में नहीं आ पाता। जुलेखा अपने घर रहती। जब कभी बड़ी छुट्टियों में दो-चार दिनों के लिये सलीम इस देहाती गाँव में पहुँचता, जुलेखा निहाल हो जाती।

कुछ साल यों ही बीत गए। अब सलीम बीस साल का अच्छा-ख़ासा नौजवान था, जुलेखा संस्कृत-कवियों की प्यारी 'षोडशी' हो चली थी। सलीम भी ग्रेजुएट हो चला था। अगर उसकी मा रहती, तो कुछ पूछना ही नहीं था, शादी भी चुकी होती। लेकिन, उसके अभाव में अब डिप्टी साहब से तक़ाज़ा कौन करे? बेटी को इस उम्र में देख जुलेखा की मा को शादी की चिंता होनी लाज़िम थी। उसने अपने पति पर ज़ोर डाला, उस बेचारे ने अपने पुराने लँगोटिया यार डिप्टी साहब को लिखना शुरू किया। लेकिन, डिप्टी साहब उन्हें इत्मीनान दिलाते हुए टालते गए। एक साल यों ही बीत गया। अब जुलेखा की मा ने अपने पति को ख़त-किताबत पर न रहकर डिप्टी साहब के पास जाने को लाचार किया। यह महाशय डिप्टी साहब के दरबार

में पहुँचे। डिप्टी साहब की उस शहरी शान-शौकत का क्या कहना? लेकिन, उन्होंने अपने लँगोटिया यार की खातिर में कमी नहीं की। पूरे दुनियादार आदमी थे। उनकी खातिर की, बहुत-सी फालतू बातें भी कीं, लेकिन शादी की चर्चा से बचते रहे। और, जब यार ने लाचार यह प्रसंग छेड़ ही दिया, तो फिर, जल्दी क्या है, कहकर दूसरी बातों में उन्हें बहला दिया।

जब वह घर पहुँचे, जुलेखा की मा बहुत बिगड़ी—"तुम समझते नहीं, घर में जवान बेटी रक्खे हुए हो, और आप यारबाशी करते फिरते हो। जुलेखा की शादी इस साल होनी ही चाहिए। तुम फिर एक बार जाओ। उनसे साफ़ कहो, यह तो उनकी पतोहू तय है ही, उसे अपने घर अब ले जायँ। सलीम भी बड़ा हुआ, खुदा उसे हमेशा सलामत रक्खे।"

लेकिन इस बार जब यह बेचारे डिप्टी साहब के पास पहुँचे, तो प्रसंग चलाने पर वह किस तरह कन्नी काट गए—"अरे यार, तुम निरे देहाती भोले हो, बातों को समझते नहीं। यह ठीक है कि मैं वादा कर चुका हूँ। बात तय-सी थी, लेकिन आजकल के लड़के पढ़-लिखकर क्या मा-बाप के रह जाते हैं। खासकर शादी के मामलों में? तुम्हारी लड़की बड़ी खूबसूरत, बड़ी सुशील है—एक जमाना था, सलीम उसे चाहता भी था। लेकिन, आजकल के इन लड़कों की पसंद की बात मत पूछो।

मुझे शक है, जुलेख़ा अब सलीम को भा सकेगी, या वह उसे अपनी बीवी बनाना चाहेगा ? तरह-तरह के लोग निस्बत लेकर आ रहे हैं। एक सब-जज साहब हैं, उनकी लड़की इंट्रेंस में पढ़ रही है, दहेज में मोटर देने को तैयार हैं। उस दिन एक एस० पी० साहब आए थे, लड़की का फ़ोटो भी लाए थे; कहते थे, मेरे यहाँ शादी होने दीजिए, सलीम को मैं पढ़ने के लिये विलायत भेज देता हूँ। यहाँ के कलेक्टर ने भी एक दिन एक निस्बत की बात चलाई थी! बताओ, यार, इतने पर भी क्या वह तुम्हें अपना ससुर चुनना पसंद करेगा ? मुझे अफ़सोस है, लेकिन दूसरा चारा ही क्या है—अब जाओ, जुलेख़ा की शादी कहीं दूसरी जगह कर दो ; पैसे की दिक़्क़त हो, तो कहना, मैं तुम्हारी मदद को हमेशा तैयार हूँ।"

जुलेख़ा के बाप के सिर पर जैसे वज्र टूटा ! वहाँ एक क्षण भी ठहरना वह गवारा नहीं कर सके। भागे-भागे घर आए, बीवी से बातें सुनाईं। बीवी ने एक बार सिर पर हाथ मारा, फिर सँभलकर बोली—"तुम सलीम से नहीं मिले, वह जुलेख़ा को प्यार करता है ! पिछली बार भी जब आया था, दोनो कैसे घुले-मिले रहते थे। वह शरीफ़ लड़का है, वह धोखा नहीं दे सकता।" लेकिन शौहर ने दीन-दुनिया समझाई, ज़माने का रंग-ढंग बताया, और फिर दोनो नए घर-वर की तलाश में लग गए।

जहाँ चाह, वहाँ राह। आख़िर ज़ुलेखा के लिये एक वर ठीक हो ही गया, शादी का दिन भी तय हो गया।

डिप्टी साहब के पास से लौटकर अपने बाप के आने के बाद ज़ुलेखा ने सब सुना। उसके काटो, तो ख़ून नहीं। लेकिन, न वह रोई, न चिल्लाई, न चेहरा उदास किया, न आँसू बहाए। मानो शंकर की तरह ज़हर का घूँट पीकर रह गई। उसकी मा को भी आश्चर्य होता, ज़ुलेखा क्या सचमुच सलीम को नहीं प्यार करती थी? ख़ैर, जब शादी का दिन तय हो गया, और उसके बाप ने अपने लँगोटिया यार डिप्टी साहब को शिष्टाचार-वश निमंत्रण-ख़त भेजा, तो उस ख़त के साथ, मा के आग्रह पर, ज़िंदगी में पहली बार उसने एक पंक्ति सलीम को लिख दी—"क्या तुम आ सकोगे? एक बार तुम्हें देख लेंगे, फिर न-जाने ज़िंदगी में कभी भेंट होती है या नहीं?"

निमंत्रण का ख़त पाकर घाघ डिप्टी साहब मुस्किराए। अब उनकी गोटी लाल थी। अब अपने बेटे की शादी वह मनमानी जगह कर सकेंगे, ख़ूब दहेज़ वसूल कर पाएंगे। ऊँची रिश्तेदारी होगी, ख़ानदान का रुतबा बढ़ेगा। जब बात तय हो ही चुकी, तो एक आख़िरी रस्म से क्यों मुँह मोड़ें? अच्छी तरह न्योता माना जाय। संयोग की बात; गर्मी की छुट्टियों में सलीम भी कॉलेज से फ़ुरसत पाकर उनके पास, जो एक मुफ़स्सिल शहर में उन दिनों रहते थे, आ गया था।

शादी में सिर्फ़ दो दिन रह गए थे। उन्होंने सलीम को वह ख़त दिया, और उससे आग्रह किया कि तुम्हें ज़रूर आना चाहिए। मानो, बेटे पर अपनी उदारता की धौंस जमा रहे हों। इसी सिलसिले में यह भी कहा कि ज़ुलेख़ा के बाप दो बार आए थे, उन्होंने उनसे थोड़ा और ठहरने को कहा था। मगर उनकी लड़की सयानी हो चली थी, कैसे ठहरते बेचारे? ख़ैर, अब सलीम को उस सब-जज साहब या उस एस० पी० साहब की निस्बतों पर विचार करना होगा। एक पुराने रईस की ओर से ज़िले के कलेक्टर साहब ने भी उनसे कहा था। यहाँ तक कि बातें करते-करते एस० पी० साहब के यहाँ से आया फ़ोटो भी उन्होंने सलीम के सामने रख दिया।

सलीम कुछ समझ न सका, कुछ बोल न सका। डिप्टी साहब उसी शाम को बाज़ार गए, और न्योते के लिये चीज़ें ख़रीद लाए। ज़ुलेख़ा के लिये एक बढ़िया साड़ी, जपर और चादर लाए, और बोले—"उसकी मा से कहना, इसी को पहनाकर बेटी को ससुराल भेजे। आह, कहाँ बेचारी मेरे घर आती, कहाँ पराए घर जा रही है।" डिप्टी साहब की आँखें भी नम थीं।

न्योता लिए जब सलीम गाँव पहुँचा, बारात आ चुकी थी। ज़ुलेख़ा के दूल्हे को देखा, अच्छा-ख़ासा ख़ूबसूरत नौजवान था। उसे थोड़ा संतोष हुआ। फिर, ज़ुलेख़ा के घर पहुँचा। उसके बाप ने उसकी आमद पर ख़ुशी ज़ाहिर की,

और बताया, संयोग से जुलेखा को अच्छा घर-वर मिल गया है। उसकी मा की आँखें सलीम को देखते ही डबडबा आईं, लेकिन इस ख़ुशी के वक़्त आँसू के लिये जगह कहाँ थी? आँखों का पानी आँखों में ही पी गई। उससे ख़ैरियत पूछी, डिप्टी साहब की भी सेहत दरियाफ़्त की। सलीम की बोली सुनते ही जुलेखा घर से निकली। वह पहले की तरह ही हँसकर मिली। उस पर लगन सोलहो आना सवार थी, वह पूरी दुलहन मालूम पड़ रही थी।

"ख़ैर, तुम आ गए—इतनी उम्मीद तो मैंने की ही थी"—उसने सलीम से कहा, जब उसकी मा जान-बूझकर उन दोनो को एकांत देने के लिये वहाँ से हट चुकी थी। सलीम क्या बोले, उसकी समझ में नहीं आ रहा था। ये सारे दृश्य, सारी बातें उसे भौंचक में डाले हुए थीं। यह सबने महसूस किया कि सलीम में न तो पिछला चुलबुलापन है, न उसके होठों पर हमेशा खेलनेवाली हँसी। हाँ, इसके मानी अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग लगाए।

रात को हँसी-ख़ुशी में शादी हुई। बारात के खाने-पीने और महफ़िल की धमा-चौकड़ी में रात गुज़र गई। सलीम सब चीज़ों में शिरकत करता रहा। लेकिन, सिर्फ़ कल के पुतले की तरह। भोर हुआ; उसी समय जुलेखा के घर से एक चीख़ की आवाज़ निकली। यह उसकी मा रो रही थी। जुलेखा चल बसी थी!

उसे क्या हुआ था, क्या बात थी, किसी की समझ में नहीं आया। मा ने सिर्फ़ यह बताया कि शादी के बाद, बहुत देर तक, वह सखियों से गप-शप करती रही। लेकिन कोहबर में जाने के लिये सखियाँ उसकी तैयारियाँ कर ही रही थीं कि उसने बताया, उसका सिर चक्कर दे रहा है, उसे मतली आ रही है। दो-एक बार क़ै भी उसने की, लोगों ने समझा, भीड़-भाड़ में चलते ऐसा हुआ है। कोहबर की यों ही रस्म करके उसे निश्चिंत सोने का मौक़ा दिया गया। दूल्हा मियाँ रात-भर साली-सलहजों से गप करते रहे, मा घर के कामों में फँसी रही। भोर में ज्यों ही मा उसे जगाने को गई, पाया, अरे, यह तो जुलेख़ा की ठंडी लाश-मात्र है!

जुलेख़ा के घर पर, बारात पर, समूचे गाँव पर जैसे मातम-सा छा गया। ख़ैर, जो होना था, हो चुका था। जहाँ से जुलेखा को लाल पालकी निकलती, वहाँ से उसकी काली ताबूत निकला। क़ब्रगाह में उसे दफ़नाते वक़्त फ़ातिहा पढ़ने को उसके बहुत-से बुज़ुर्ग और अज़ीज़ गए; उसका दूल्हा भी गया। लेकिन, लोगों को आश्चर्य हुआ, सलीम वहाँ नहीं था।

बारात वापस गई, दूल्हा वापस गया, हित कुटुंब सब अपने-अपने घर गए। शाम हुई, रात आई। सलीम के घर उसके कुछ बचपन के साथी आ जमे। वे लोग बड़ी रात तक जुलेख़ा और इस आकस्मिक घटना की तरह-तरह चर्चा करते रहे। एक ने इसी चर्चा के बीच दबी ज़बान से कहा—"सलीम

भैया, आप फ़ातिहा पढ़ने नहीं गए, यह अच्छा नहीं किया। उफ़्, वह बेचारी आपको कितना प्यार करती थी। उसकी रूह क़ब्र में तड़पती होगी!" अनमना सलीम इस बात को यों टाल गया, जैसे इसका कोई महत्त्व नहीं। इन चर्चाओं में भी वह बहुत कम हिस्सा लेता रहा। आज दिन में उसे इस बात की भी पूरी ख़बर मिल चुकी थी कि किस तरह उसके बाप ने शादी नामंज़ूर कर दी थी। इन बातों का उसके सिर पर भारी बोझ था। जब सभी साथी घर गए, सलीम भी सोने का उपक्रम करने लगा। लेकिन, जल्दी उसे नींद आई नहीं। जब गाँव का पहरुआ दूसरा पहरा दे चुका, तब कहीं उसे नींद आई।

नींद आई? - वह तो सिर्फ़ एक झपकी थी। और, उस झपकी के बाद?

भोर में क़ब्रगाह की ओर एक शोर मचा। कुछ ढोर चरानेवाले अपनी भैंसें उसी ओर ले जा रहे थे कि उन्होंने देखा, जुलेख़ा की क़ब्र के नज़दीक कोई पड़ा हुआ है! वे चिल्ला उठे। लोगों ने वहाँ जाकर देखा, क़ब्र की बग़ल में बहुत-सी मिट्टी खोद दी गई है। और, उसी मिट्टी निकलने से बने खोह में सलीम का सिर है, और बाक़ी धड़ बाहर पड़ा है। झटपट उसके सिर को खोह से निकाला, देखा, ज़रा-ज़रा साँस आ रही है। बग़ल में ही उसकी छड़ी टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरी थी। उसके नाख़न लहू-लुहान हो गए थे।

लोगों की समझ में कोई बात नहीं आई। उसे बेहोशी में ही उठाकर घर ले आए। बेहोशी दूर होती ही नहीं थी। डिप्टी साहब के पास आदमी दौड़ाया गया। वह डॉक्टर लेकर दौड़े आए। बहुत उपचार के बाद, पाँच दिनों बाद, उसने आँखें खोलीं। इधर-उधर देखा। फिर आँखें मूँद लीं। दो दिन तक यों ही आँखें खोलता मूँदता रहा। चिकित्सा होती रही। आख़िर, वह बैठने-उठने के लायक़ हुआ। थोड़े दिन बाद मालूम हुआ, अब वह बिलकुल अच्छा होने जा रहा है कि अचानक एक दिन आँगन के एक कोने की ओर दौड़ा। बग़ल में एक लकड़ी पड़ी थी, उसी से ज़मीन खोदने लगा। लोग पकड़ने दौड़े, लकड़ी छीन ली, तब वह नाख़ूनों से ही ज़मीन कुरेदता रहा, जब तक कि लोग उसे ज़बरदस्ती उठा नहीं लाए! तब से यह दौरा बराबर हुआ करता है।

[३]

हसीब ने बताया, इस कहानी की कड़ी जोड़ने में उसे कितनी दिक़्क़तें उठानी पड़ी थीं। डिप्टी साहब, जुलेख़ा की मा, उसके बाप, गाँव के लोग, सलीम के यार-दोस्त सबसे पूछ-ताछ की गई थी। लेकिन उसके सोने और बेहोश होने के बीच की कड़ी को तो ख़ुद सलीम ही जोड़ सकता था। लेकिन सबसे बड़ी दिक़्क़त की बात यही थी कि ज्यों ही जुलेख़ा का नाम उसके सामने लिया जाता, वह चौंक उठता, इधर-उधर देखने लगता, सिर झुकाकर ज़मीन से उठती हुई किसी

कल्पित आवाज़ को सुनने की चेष्टा करता, किसी चीज़ की तलाश में दौड़ता, न मिलने पर हाथों से ही कभी-कभी मिट्टी खोदने लगता। बड़े धीरज से हसीब ने धीरे-धीरे एक-एक बात पूछी। ज्यों ही देखता, वह चौकन्ना हो रहा है, रुक जाता, दूसरी बातों में उसे बहला देता। नीचे लिखी बात की जानकारी भी उसने हासिल कर ही ली—

बात यों हुई कि वह उस रात जब पहली झपकी में था, उसने ख्वाब में देखा कि जुलेखा वही दुलहन की साड़ी पहने उस पर मुस्किरा रही है। व्याकुलता में उसकी नींद टूट गई। उसने सोचा, फ़ातिहा नहीं पढ़ा, इसी से उसकी रूह शायद मँडरा रही है। बिछावन पर से उठा, टॉर्च जलाई। कपड़े पहन छड़ी ली, और क़ब्रगाह की ओर चल पड़ा। वहाँ टॉर्च से उस नई क़ब्र को देखा, फिर फ़ातिहा पढ़ने लगा। दो बार बैठा-उठा, तीसरी बार जब बैठकर सिर झुकाया, उसे मालूम हुआ, जैसे जुलेखा पुकार रही है—"सलीम, मेरे प्यारे! ...मैं अभी ज़िंदा हूँ........मुझे इस क़ब्र से निकालो!.... उफ़, मेरा दम घुटा जा रहा है,....जल्दी करो!" एं, यह क्या? उसने ज़मीन से कान लगाया, आवाज़ और साफ़ सुनाई पड़ी। तो जुलेखा ज़िंदा है—यह कैसी ग़लती हुई? किसी को पुकारने की उसे सुध कहाँ रही। अपनी छड़ी से क़ब्र खोदने लगा। छड़ी टुकड़े-टुकड़े हो गई, तो उँगलियों से ही। इसी खोद-खाद में वह बेहोश हो गया था।

उस रात में उसने किस तरह ख़्वाब देखा, और क़ब्रगाह में पहुँचा, इसके जानने में तो पद-पद पर कठिनाई हुई थी। क़ब्रगाह में फ़ातिहा पढ़ते समय की बात कहते-कहते वह ज़ोर से चिल्ला उठा—"ज़ुलेख़ा पुकार रही है", और एक चीख़ के साथ जो बेहोश हुआ, तो दो दिनों तक उसे होश में नहीं लाया जा सका, और पूरे एक महीने में कहीं जाकर वह चलने-फिरने लायक़ हुआ।

निस्संदेह सलीम के दिल में ज़ुलेख़ा की गाढ़ी मुहब्बत थी—मुहब्बत उस गहराई तक जा पहुँची थी, जब वह ज़बान की चीज़ नहीं रह जाती। उसकी शादी दूसरे से होगी, वह दूसरे की हो जायगी, इसकी कल्पना भी उसने नहीं की थी। शहर में रहकर, अँगरेज़ी की ऊँची तालीम हासिल करके भी उसने अख़लाक़ नहीं खोया था। ज़ुलेख़ा को छोड़कर कभी किसी दूसरी लड़की से शादी की बात वह सोच भी नहीं सकता था। फिर, अपनी मा को वह बहुत ही प्यार करता था। ज़ुलेख़ा के प्रति उसकी मुहब्बत में उसकी मा की ज़ुलेख़ा के प्रति जो स्नेह-भावना थी, इसका भी बहुत हिस्सा था। ज़ुलेख़ा उसकी सिर्फ़ अपनी ही नहीं थी, बल्कि मातृप्रेम का एक प्रतीक भी थी। किंतु इन बातों पर दुनियादार डिप्टी साहब का कुछ ध्यान नहीं रहा। अपनी अज़हद चतुराई के कारण वह ख़ुद ठगे गए।

किंतु, सिर्फ़ डिप्टी साहब की तंबीह करने से तो कुछ होता-

जाता नहीं था। हसीब ने भी तय किया, वह अपनी पूरी कला लगाकर इस मरीज़ को अच्छा करने की कोशिश करेगा। यह एक ऐसा केस था, जिस पर प्रयोग करने में उसे भी रस अनुभव होने लगा। हाँ, इस रस में करुणा की मात्रा कहीं ज़्यादा थी।

उसने डिप्टी साहब से कहा कि ऐसी एक लड़की ठीक कीजिए, जिसकी सूरत-शकल जुलेखा से कुछ-कुछ मिलती हो। उसने यह भी बताया कि वह लड़की ज़रा होशियार हो, उसके कहे मुताबिक़ वह कर सके, उसे सलीम की चहेती बनना पड़ेगा, और यदि सलीम अच्छा हुआ, तो उससे शादी भी करनी पड़ेगी। डिप्टी साहब को उसने इत्मीनान दिलाया कि ख़ुदा के फ़ज़्ल से वह सलीम को भला-चंगा करने में ज़रूर ही सफलता प्राप्त कर सकेगा।

जुलेखा की ख़ाला की एक लड़की थी, हूबहू जुलेखा की-ऐसी। यद्यपि जुलेखा की मा अपनी बेटी की मौत का कारण डिप्टी साहब को ही मानती थी, उनसे वह बहुत ही नाराज़ थी, लेकिन सलीम से जो उसे प्रेम था, उसके सबब उसने अपनी बहन को राज़ी किया कि वह उस लड़की को सलीम की सेहत के लिये ज़रूर दे। फिर कहीं, सलीम अच्छा हुआ, तो इसकी शादी भी हो जायगी, और यों जुलेखा की शादी की कलक भी दूर हो जायगी—बेटी की शादी नहीं हुई, बहन की बेटी की हुई। वह लड़की काफ़ी होशियार थी। वह भी तैयार

हो गई। उसे लेकर डिप्टी साहब हसीब के पास पहुँचे। हसीब ने उसका रूप-रंग देखकर ख़ुशी ज़ाहिर की। अब उसे विश्वास-सा हो गया कि वह सलीम को भला-चंगा कर सकेगा।

पहले दिन ही जब वह उस लड़की को लेकर पागलख़ाने में सलीम के सेल (कोठरी) के निकट पहुँचा, सलीम उसे घूर-घूरकर ताकता रहा। उस दिन उसने बार-बार ज़मीन खोदने की भी चेष्टा की—और दिनों से कहीं ज़्यादा। यह प्रतिक्रिया अच्छे शकुन की सूचक थी—हसीब को आनंद हुआ, उसे ज़रूर कामयाबी हासिल होगी।

धीरे-धीरे वह लड़की सलीम के पास प्राय भेजी जाने लगी। एक दिन उसने सलीम को सलाम किया, खैरियत भी पूछी। सलीम चुपचाप सब सुनता रहा। चलते समय पान का एक बीड़ा उसने उसकी ओर बढ़ाया।

हसीब ने देखा, सलीम की ज़िंदगी पर इस लड़की का असर हो रहा है।

कुछ दिनों के बाद वह सलीम को अपने बँगले पर ही बुला लेता। वह लड़की अब उससे बातें करती, उसे खिलाती-पिलाती। उसकी ख़ाला—जुलेखा की मा को भी हसीब ने बुला लिया था वह भी हसीब के कहे मुताबिक़ सलीम से व्यवहार रखतीं। एक दिन सलीम अचानक चौंक पड़ा, जब उन्होंने अपनी इस बहन की बेटी को जुलेखा कहकर पुकारा। फिर तो उस पर जैसे भूत सवार हो गया।

लगा वे ही पुरानी हरकतें करने। लेकिन, ज्यों ही वह लड़की पहुँची, और उसका हाथ पकड़ा, वह सुधुआ गाय बन गया। उसने उसे कुरसी पर ला बिठाया। चाय पिलाई, बातें कीं। ज़रा नाराज़ी के स्वर में यह भी कहा—"तुम यह क्या करते हो?" सलीम सहमा, सिकुड़ा, आजिज़ी प्रकट करने लगा—"नहीं, मैंने कुछ नहीं किया।" हसीब ने समझा, अब तो मैंने बाज़ी मार ली।

धीरे-धीरे सलीम की हालत सुधरती गई। जुलेख़ा की मा ने एक दिन उससे यह भी बता दिया कि यह मेरी बहन की बेटी है; जुलेख़ा इसका भी नाम है। इस बात से उसे थोड़ा धक्का लगा, लेकिन इसका असर भी दूर होने लगा। वह लड़की इस तरह उस पर प्रेम-भाव प्रकट करती, उससे यों लगी-लगी रहती कि उसकी ज़िंदगी पर वह पूरी तरह छा गई थी। आख़िर वह दिन भी आया, जब दोनो एक साथ रहते, गप-शप करते, ताश खेलते, कभी-कभी सलीम कोई उपन्यास, कहानी या कविता की किताब लेकर भी उसे सुनाता। इस नई जुलेख़ा पर, उसकी ख़ाला पर, डिप्टी साहब पर और उससे बढ़कर हसीब पर एक नए आनंद का रंगीन बादल छाने लगा। सब ख़ुश थे, सब उस दिन की प्रतीक्षा में थे, जब यह रंगीन बादल रंगीन बरसात लाएगा, चातक की प्यास बुझेगी, दुनिया हरी-भरी होगी।

हसीब अपने फ़न की बारीक चातुरी से एक-एक क़दम आगे बढ़ता गया। उसने सोचा, अब चीज़ें वहाँ पहुँच गई हैं, जहाँ 'फ़ाइनल टच' दिया जा सकता है। उसकी राय से एक दिन सलीम की ख़ाला ने बातों-ही-बातों उस पर प्रकट किया कि वह नई जुलेख़ा से शादी कर ले। और, शादी की बात पक्की हो गई।

उस दिन हसीब के बँगले पर ख़ुशी की बाढ़ आई हुई थी। कुछ चुने हुए लोगों को न्योता देकर बुलाया गया था। गाना-बजाना हो रहा था, खाने-पीने के इंतज़ाम हो रहे थे। सलीम दूल्हा बना यहाँ-वहाँ घूम रहा था। जो लोग आते, डिप्टी साहब को उनकी ख़ुशनसीबी पर और हसीब को उसके फ़न की उस्तादी और कामयाबी पर मुबारकबाद देते। रात हुई, हँसी-ख़ुशी में शादी हुई। जुलेख़ा की मा को उस समय अपनी बेटी की याद आई, और याद आई सलीम की मा की। काश बेचारी यह ख़ुशी देख पाती! शादी के बाद कोहबर के लिये दूल्हा-दुलहन ख़िलवत में गए। डिप्टी साहब अब अपने को सँभाल न सके। हसीब के पैरों से वह लिपट गए। हसीब हाँ-हाँ करता रहा, लेकिन वह क्यों मानने लगे, रोते, कहते—"डॉक्टर साहब, आप मेरे लिये इंसान नहीं, ख़ुदा हैं। आपने मेरे बेटे को नई जान दी है—मुझ निपूते को फिर एक बार बेटे-वाला बना दिया है। यह सलीम मेरा बेटा नहीं, आपका बेटा है डॉक्टर साहब!"

बड़ी रात तक आगंतुकों ने बातें जारी रक्खीं। शादी और डॉक्टरी—उनकी चर्चा के ये ही दो मुख्य विषय थे। डिप्टी साहब अपनी दुनियादारी पर शर्मिंदा थे, दूसरे लोग इससे सबक़ ले रहे थे। डॉक्टरी, ख़ासकर मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की तो भूरि-भूरि प्रशंसा हो रही थी। जो लोग कल तक साइंस के नाम से भड़कते थे, वे ही आज उसकी तारीफ़ करते नहीं अघाते थे। बातों से थकथकाकर लोग सुख की नींद सोने गए।

लेकिन भोर होते ही फिर एक चीख़ सुनाई पड़ी। यह नई जुलेख़ा की चीख़ थी। जब उसकी नींद टूटी, उसने देखा, सलीम उसके नज़दीक नहीं है। दरवाज़ा खुला था, इधर-उधर उसने देखा, उसे कहीं नहीं पाया। उसका माथा ठनका। वह चीख़ पड़ी। सब लोग जगकर इधर-उधर तलाश करने लगे। सलीम कहाँ गया, क्या हुआ—सबके चेहरे पर हवाई उड़ रही थी, सबके पैरों में पर लग गए थे। आख़िर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते लोगों ने हसीब के बँगले की फुलवाड़ी में जो एक चमेली का झाड़ था, उसके नज़दीक उसे पाया। उसे ?—नहीं, उसकी लाश को! झाड़ के निकट उसने एक खोह-सी खोद रक्खी थी। उसका सिर उसी खोह में था। खोह काफ़ी गहरी थी। मालूम होता था, खोदता हुआ अपना सिर उसमें वह घुसेड़ता गया। खोदते-खोदते उसमें ताक़त नहीं रह गई, वह मूर्च्छित हो गया, और अंत में दम घुटकर उसी में मर गया।

जिस बादल से अमृत की बूँदें बरसतीं, वहाँ से वज्र गिरा! बेचारे डिप्टी साहब की हालत क्या कहना? वह तो ज़िंदा ही मुर्दा बन चुके थे। हसीब के दिल पर भी कम सदमा नहीं लगा! लेकिन सबसे ज्यादा असर हुआ इस नई जुलेखा पर। बेचारी ने दुनिया में पैर रक्खे ही थे कि यह धक्का लगा। इस धक्के को वह बरदाश्त नहीं कर सकी। उसने अपने घर जाने से साफ़ इनकार कर दिया। अब हसीब के घर ही वह रहती है, और हर भोर को उस चमेली के पेड़ के निकट जाकर कुछ फूल चढ़ा आती है। हर भोर को—चाहे जाड़ा हो, या गर्मी, वर्षा हो रही हो, या ओले गिर रहे हों। हसीब का सारा साइंस इस भोली लड़की के नज़दीक पराजय मान चुका है—सिर झुका चुका है।

जी
व
न
-
त
रु

[१]

यह मेरे ननिहाल की बात है।

यह गाँव बागमती-नदी के किनारे बसा हुआ है।

भले ही इसमें बड़ी-बड़ी बाढ़ें आती हों; हर साल ख़ूब कटाव करती, खेतों को ढहाती, गाँवों को उजाड़ती, लोगों को तंग करती हों; लेकिन तो भी हर आदमी चाहता है, बागमती-नदी हमारे गाँव होकर बहे। क्यों? लोग कहते हैं, बागमती के पानी में सोना है—

वह सोना नहीं, जो स्वर्ण-रेखा-नदी की तरह बालू को छानकर, धोकर प्राप्त किया जा सके; वरन् जो धान, गेहूँ, मकई, कउनी आदि के बालों पर झलकता है। किसानों के लिये यही सोना काफ़ी होता है न।

यह गाँव किसानों का है। छोटे-छोटे किसान, लेकिन संपन्न। खेती में थोड़ी मेहनत, ज्यादा उपज। फिर, लोगों के जीवन में मस्तानापन क्यों न दिखे ?—लेकिन वह मस्तानापन नहीं, जो शहरों में भड़कीली पोशाक, सिर पर झबरीले बाल, चेहरे पर नज़ाकत और नफ़ासत एवं मधुशाला और मधुबाला की चसक आदि के रूप में दीख पड़ता है। गाँवों के मस्तानेपन का रूप है कुश्ती लड़ना, भंग छानना, घोड़े और मेढ़े पालना, बाँस की लाल लाठियाँ लेकर झूमते हुए मेले-ठेले में जाना या ढोलक-मँजीरे लेकर दरवाज़े पर ही रागों की टाँग तोड़ना ! यहाँ के किसानों की मस्ती भी इसी कोटि की थी।

इन्हीं मस्त किसानों में एक थे हाकिमसिंह। सुनते हैं, इनके रोबीले चेहरे को देखकर ही इनके दादाजी ने, जो जवार-भर में एक ही कचहरिया थे, इनका नाम हाकिमसिंह रक्खा था। गोरा रंग, चौड़ा ललाट, भरे गाल, उठी हुई भवें, सुर्ख़ी लिए आँखें, तनी हुई मूँछें और दुहरी ठुड्डी। शरीर भी वैसा ही गठा हुआ। जब लँगोट कसकर खड़े होते, मालूम होता, पौरुष प्रतिमा बनकर खड़ा है। चौड़ी छाती, मांसल बाहें, गोल जाँघ—नख-शिख सँवारा हुआ। इन मस्तों के गाँव में हाकिम मामा (मैं उन्हें मामा ही कहता) की मस्ती सबसे बढ़ी-चढ़ी थी। कुश्ती में आपसे कोई पार नहीं पाता, भंग का तो अखाड़ा ही आपके यहाँ जुटता, आपके घोड़े से तेज़ चलनेवाला घोड़ा उस जवार-भर में नहीं था, आपका मेढ़ा

एक ही टक्कर में कितनी भेड़ों को सुला चुका था। हाकिम मामा ने एक भैंस भी रख छोड़ी थी, जिसकी गुजराती सींग और पंजाबी देह देखने ही लायक़ थी। खुद गाते-बजाते तो नहीं थे, सुनने का शौक़ ज़रूर रखते थे। उनके दरवाज़े पर गवैए आया-जाया ही करते, लेकिन सबसे बड़ा शौक़ हाकिम मामा को था बग़ीचे लगाने का। कई क़ित बग़ीचे थे, जिनमें तरह-तरह के अजूबा पेड़ थे, और इन पेड़ों की सिंचाई, जन-मजदूरे पर न छोड़कर, हाकिम मामा ने अपने हाथों की थी।

यों, हाकिम मामा की ज़िंदगी हँसी-खुशी की, मस्ती-मशरत की ज़िंदगी थी। लेकिन इन सबके बावजूद एक अभाव था, जिसकी याद ही सबको उदास कर देती। हाकिम मामा तो इस संबंध में अपनी मनोभावना को प्रकट नहीं होने देते; लेकिन और लोग तो उसाँसें भरकर जब-तब इसकी चर्चा कर ही देते, और हमारी मामी (हाकिम मामा की गुणवंती पत्नी) को तो इसका सबसे बड़ा दुख था। कितने व्रत किए, कितनी मन्नतें मानीं, कितने साधु गुणी जनों की सेवा की, पर सब व्यर्थ। उनकी गोद न भरी, न भरी। यह भरा-पुरा घर एक संतान के विना सूना, बिलकुल सूना—लगता। लोगों का धैर्य अब उस सीमा पर पहुँच गया था कि कभी-कभी, दबी ज़बान, हाकिम मामा से दूसरी शादी करने की चर्चा भी कर दी जाती। हाकिम मामा झिड़ककर, कभी हँसकर, इसको टाल देते;

लेकिन जब इस चर्चा की ख़बर मामी को मिलती, वह मर्माहत हो जातीं—एक तो विधना ने कोख में राख भर दी, दूसरे अब सिर सौत आएगी; पर मामी की यह आशंका व्यर्थ थी। हाकिम मामा वैसे आदमी नहीं थे, जिनका निश्चय पल-पल में बदलता है। यहाँ तो रजपूती शान थी—"हाँ करी, तो हाँ करी औ ना करी, तो ना करी।"

और, एक ज़माना वह भी आया, जब मामी ने ख़ुद हाकिम मामा से अनुरोध किया कि "शादी कर लीजिए, यह सूना घर मुझे नहीं सुहाता।" और, 'जब सौत कलेजे पर मूँग दलेगी, तब ?"—हाकिम मामा ने बिगड़कर कहा। "आप निश्चिंत रहें, मैं सब बरदाश्त कर लूँगी।"—मामी ने मुँह लगे जवाब दिया। लेकिन इस बात का प्रभाव भी उनके दिल पर कुछ नहीं पड़नेवाला था। हाकिम मामा निर्द्वंद्व हो अपने दैनिक कार्य-कर्मों में व्यस्त रहे—खेती-गिरस्ती से जो समय बचा, उसमें वही कुश्ती, वही भंग, वही घुड़दौड़, वही मेढ़ा-लड़ान, वही गाना-बजाना, वही बाग़बानी! जैसा कि ऐसे लोगों के पास होता है, अलमस्तों का एक जमघट-सा उनके अगल-बग़ल मड़राता फिरता। हा-हा-ही-ही के इस तूफ़ान में संतान की कामना कहाँ सिसकियाँ ले रही है, पता भी नहीं चलता।

हाँ, उस दिन से अपनी पत्नी के लिये उनके दिल में बहुत आदर और स्नेह बढ़ गया।

[२]

पूजा की छुट्टी में, जब मैं एक बार स्कूल से लौटा, सुबह-सुबह शहनाई की आवाज़ सुनकर हैरत में पड़ गया। देशी-विदेशी नाना तरह के बाजों के युग में मैं शहनाई का भक्त हूँ, यह कहकर अपनी दिल्लगी कराने से क्या फ़ायदा? लेकिन फिर भी कहता हूँ, सुबह की शहनाई, अगर उसकी आवाज़ कुछ दूर से और कुछ ऊँचे से आती हो, तब वह, मेरे खयाल से, ऐसा समा पैदा कर देती है कि उसका मुक़ाबला शायद ही कोई बाजा करे—ख़ासकर हृदय में एक विशेष प्रकार की विह्वलता पैदा कर देने में! मैं विह्वल था, लेकिन उससे भी ज्यादा आश्चर्य-चकित; वह बेवक़्त की शहनाई तो हर्गिज़ नहीं थी, लेकिन बेमौसम की शहनाई तो थी ही। यह आश्विन का महीना, लगन-वगन है नहीं, फिर शहनाई कैसी? सो भी भोर-भोर शहनाई की आवाज़ हाकिम मामा के घर की ओर से आ रही थी। क्या मामा को ही यह शौक़ चर्राया है? ज़रा चलके देखें तो, क्या माजरा है? उनके दरवाज़े पर जाकर देखा—यहाँ तो आनंद और उल्लास की बाढ़-सी आ गई है। केले के थंभ गाड़कर मेहराब बनाई गई हैं, जिसमें गेंदे की मालाएँ सिलसिलेवार टँगी हैं। एक ऊँचा मचान बना है, जिस पर शहनाई बज रही हैं। इधर-उधर कई पीली धोतियाँ, साड़ियाँ सूख रही हैं। एक आते, एक जाते हैं—सबके चेहरे पर उत्साह-

ही-उत्साह है। आँगन से औरतों के गाने और बीच-बीच में हँसने की आवाज़ आ रही है, दरवाज़े पर ढोलक गमकती और मंजीरे खनकते हैं।

हाकिम मामा के घर में, उन्हीं के शब्दों में, लक्ष्मीजी ने पदार्पण किया था! इसी की बधैया थी।

यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि जैसा उत्सव हाकिम मामा ने इस बेटी के जन्म के उपलक्ष्य में किया, वैसा किसी के बेटे के जन्म में भी नहीं देखा गया होगा। हाकिम मामा कहते—"अरे, निस्संतान का कलंक तो छूटा; बेटा न सही, बेटी ही!" मामी भी यही मानकर हर्ष में डूबती-उतरातीं। बरही तक—बारह दिनों तक—मामा का घर भोज-भात, गाने-बजाने का अड्डा बना रहा। बरही को जब अपने आँगन में मामा ने पीली साड़ी पहने, मुक्त-कुंतला, एक स्त्री को एक छोटे-से प्राणी को गोद में लिए देखा, वह उछल-से पड़े। वही मामी थीं, लेकिन वह न थीं उनका चेहरा पीला पड़ गया था, आँखें कुछ धँस गई थीं—लेकिन उस पीले चेहरे में जो रूप-छटा थी, उन धँसी आँखों में जो अजीब आकर्षण था, वैसा मामा ने कभी नहीं देखा था। फिर, उसकी गोद की वह बच्ची—ताज़े मांस की एक लोथड़ी-सी, लेकिन वह कितनी प्यारी थी! मामा अपनी पत्नी पर आज जितने आकृष्ट थे, शायद 'कोहबर' की रात के बाद कभी ऐसे नहीं हुए थे! उत्फुल्लता से उफनाए उन्होंने

सबको मुँहमाँगी चीज़ें दीं। गाँव-भर में हाकिम मामा का जय-जयकर हो गया।

मामी ने अपनी इस बेटी का नाम रक्खा इँजोरिया—इँजोरिया, जिसे हम लोग अपनी सभ्य भाषा में चाँदनी कहते हैं। उनके अँधियारे घर में यह शीतल प्रकाश लाई थी—इँजोरिया नाम तो सार्थक था ही !

इँजोरिया दूज के चाँद की तरह बढ़ने लगी।

कहने को तो इंजोरिया बेटी थी, लेकिन लाड़-प्यार बेटों से भी बढ़कर। यही नहीं, हाकिम मामा इँजोरिया को बेटे की तरह ही अपने साथ दरवाज़े पर रखते, टहलाने को बग़ीचे ले जाते, घोड़े पर चढ़कर लगाम थाँभना सिखलाते, उसे बेटे की पोशाक पहनाकर बेटा बना लेते—बेटों-से ही उसके बाल सँभालते, धोती-कुर्ता पहनाते, चंदन लगा देते। एक बार तो उसके बालों को काकुलनुमा कतरवाकर, पूरा-पूरा बेटा बना लेना चाहते थे, लेकिन मामी बिगड़ीं। बेटी के बाल कतरना महाकुलच्छन ! मामा सिटपिटा रहे। यों ही मामी को यह देखकर एक दिन महान् अचरज हुआ कि मामा इँजोरिया को लँगोट पहनाकर कसरतें करना सिखला रहे हैं। मामी ने बड़ी डाँट बताई—"इसे पहलवान बनाओगे ? मालूम होता है, इसका शादी-ब्याह भी तुम बंद करोगे।" मामा सहम गए—अपराधी की तरह हँसने की चेष्टा करते हुए रह गए। मामी ने उन्हें डाँटा तो, किंतु घर में आकर बहुत रोईं—आह ! यह

बेटा क्यों न हुई—'उनके' कितने मनोरथ यों ही रह जायँगे।"

जब इँजोरिया खाने-पीने लायक़ हुई, हाकिम मामा एक काम बिला नाग़ा करते—हर 'पेठिया' जरूर जाते। घोड़ा कस, सवार हो, फुदकाते-उड़ाते पेठिया पहुँचते, और जो नई या अच्छी चीज़ खाने-पीने की मिलती, उसे मुँहमाँगे दाम में ख़रीदकर घर लाते, और अपने हाथों इँजोरिया को खिलाकर अपूर्व आनंद अनुभव करते। खाने-पीने की नई चीज़ों के ख़रीदने का यह शौक़ मिठाई के दूकानदार, खोंचेवाले और कुँजड़े-कबाड़ी तक पर शोहरत पा चुका था। यह नई मिठाई, यह नए क़िस्म का नमकीन, यह नया फल, यह ताज़ा मेवा, हाकिम बाबू, आपके ही लिये मैं सँजोगकर रक्खे हुए हूँ"—वे मामा को देखते ही बोल उठते। मामा क्या कभी उन्हें निराश होने देते ?

एक दिन मामा 'पेठिया' से लौटे। उनके हाथ में लीची के लाल-लाल गुच्छे थे। इँजोरिया उनकी प्रतीक्षा में थी ही। ज्यों ही वह घोड़े से उतरे, वह दौड़कर उनके निकट पहुँची, और इन प्यारे-प्यारे गुच्छों को उनके हाथों से छीन लिया। गोल-गोल लाल फल! देखा, कितना सुंदर! चखा, कितना मीठा, कितना रसीला! "बाबूजी, इसका क्या नाम है, कहाँ से लाए हो, रोज लाना बाबूजी!" किंतु क्या यह कहने की ज़रूरत थी? इँजोरिया को पसंद पड़े, और वह न

आए ? एक दिन इँजोरिया ने कहा—"बाबूजी, अपने बग़ीचे में क्यों नहीं लीची लगाते ?" बाग़वानी के शौक़ीन हमारे हाकिम मामा ने बग़ीचे में लीची नहीं लगाई हो, यह बात नहीं। किंतु, यह फल कुछ विचित्र है। पेड़ तो हर कहीं भी लग जाय, किंतु वैसे फल नहीं लगते। एक तो आते ही कम, आते भी, सो छोटे, खट्टे, गुठली से भरे। हारकर हाकिम मामा ने छोड़ दिया था।

किंतु, इँजोरिया के इस आग्रह ने मानो उन्हें असंभव को संभव करने के लिये तैयार कर दिया। उनके घर से सात-आठ कोस की दूरी पर लीची ख़ूब होती थी। शायद मिट्टी के फ़र्क़ से यहाँ लीची नहीं होती, ऐसा सोचकर उन्होंने वहीं से मिट्टी मँगाने का निश्चय किया। ग़ल्ले के लिये बैलगाड़ियों का ताँता इधर-उधर जाते-आते लोगों ने प्रायः देखा था, किंतु मिट्टी लाने के लिये जिस दिन इस गाँव से गाड़ियों का काफला चला, वह अजीब दिन था। जब वे गाड़ियाँ मिट्टी लेकर लौट रही थीं, बीच के गाँवों में कौतूहल-सा मच गया। यह कौन पगला है, जो आठ कोस से मिट्टी मँगवा रहा है ?

आषाढ़ की एक अच्छी तिथि को, हाकिम मामा के घर से सटी हुई बारी में, शाम के समय, हम चहल-पहल देख रहे थे। एक गड्ढा खोदकर उसमें गाड़ियों पर की मिट्टी भर दी गई थी। आज उसी भरन पर लीची का एक बिरवा रोपा जा रहा था। बिरवा को अच्छी तरह रोप हाकिम मामा मुस्किराते हुए बोले—"बेटी, इसमें सबसे पहला पानी तुम्हारे

हाथों ही पड़े—शायद तुम्हारे हाथ में बरकत हो!" सुनते ही अपनी छोटी-सी लुटिया में इँजोरिया पानी लाई, और हर्षित-पुलकित हो बिरवा की जड़ में पानी डालने लगी। मामी भी वहीं थीं; इँजोरिया की चपलता और मामा की वत्सलता देखकर उनके कटोरे लबालब हो गए।

आज से यह लीची मानो हाकिम मामा की दूसरी पुत्री हुई। सुबह, शाम, दोपहर क्या, जब ज़रा-सी फुरसत पाते, उसे देखते। अपने हाथों पानी डालते। उनका कहना था, जिस तरह आदमी एक ख़ास परिमाण में ही पानी पीता है, ज्यादा पानी उसे बीमार कर सकता, उसे मार डाल सकता है, वही हाल पौदों का भी होती है; अतः पौदों में पानी डालने में बहुत ही होशियारी करनी चाहिए। अपने हाथों ही उसका थाला बनता—खुरपी की एक हल्की नोक ही पौदों की रग काट डाल सकती है, इसे हमें भूलना नहीं चाहिए, वह गंभीरता से कहते। जब लीची में नया पत्ता निकलता, मामा का रोम-रोम हरा-भरा हो जाता, और जिस दिन उन्होंने उसमें नई शाख की कोपल देखी, वह तो आनंद-प्रमत्त हो गए। दौड़कर मामी को बुला लाए, उन्हें कोपल दिखलाई, बोले—"कहा न था, इँजोरिया की अम्मा, इँजोरिया के हाथ में बरकत है—कितनी जल्द शाख निकल आई? देखना, देखना इसमें फल भी ख़ूब लगेंगे, और अच्छे रसीले!" इँजोरिया भी वहीं थी—मामा की बातें सुनकर अपने पर फूली नहीं समाई।

मामा का सबसे बुरा दिन वह था, जिस दिन दोपहर को इँजोरिया हाँफती हुई आई, और बोली—"बाबूजी, लीची मुरझा रही है।" मामा दौड़े हुए बारी में गए। देखा, जैसे कोई बच्चा बीमार पड़ा हो, और अपने हाल पूछनेवाले की ओर करुण नेत्रों से देख रहा हो। मामा की आँखें डबडबा आईं। सबसे पहले उन्होंने दो-चार मिन्नतें मान दीं—यदि लीची बच गई, तो सत्यनारायण की कथा कराऊँगा, गंगा मैया को अँचरा चढ़ाऊँगा, देवउठान एकादशी करूँगा—यों क्या-क्या न। फिर, दो-चार बाग़वानी के शौक़ीनों को बुलाया। किसी ने सेंवार की खाद, तो किसी ने झींगा मछली की खाद डालने की सलाह दी। किसी ने कहा, नज़दीक में दो-तीन केले के पेड़ लगा दीजिए, जो इसे ठंडा रक्खेंगे। गरमी से शायद मुरझाई है। एक ने कहा—"कुछ नहीं है किसी ने शायद झकझोर डाला है, चारो ओर काँटों का घेरा कर दीजिए।' यह किसी ने' कौन हो सकता है?—इस बारी में कोई पराया आ नहीं सकता। इँजोरिया नें इसे अपने पर तुहमत समझा। वह बहुत रोई। मामा ने बहुत कोशिशों से उसे प्रबोधा। फिर उपचारों में लगे। मिन्नतों के ज़ोर से या उपचारों के बल से—लीची फिर कभी नहीं मुरझाई, तेज़ी से बढ़ने लगी।

लीची बढ़ने लगी, और बढ़ने लगी इँजोरिया। मामा ने सोच रक्खा था, यह लीची जिस साल फलेगी, उसी साल इँजोरिया की शादी करूँगा, और इसका पहला फल उसके

दूल्हे को ही चखाऊँगा। किंतु यह इच्छा क्या पूरी होनेवाली थी? एक तो इँजोरिया ने बढ़ने में लीची को कहीं पीछे छोड़ दिया, और दूसरे मामी जोर देने लगीं कि जल्द-से-जल्द इँजोरिया की शादी हो जाय। ज़िंदगी का क्या ठिकाना—शुभ कर्म जल्दी ही कर लेना चाहिए। फिर पुरोहितजी का 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी. दशवर्षा तु रोहिणी' वाला श्लोक था ही। हाकिम मामा इँजोरिया की शादी की धुन में लगे—

इँजोरिया की शादी—यह कल्पना उनके लिये भी क्या कम मधुर थी?

[३]

आज तक भी लोग कहते हैं, जिस ठाट-बाट से बाबू हाकिमसिंह ने अपनी लड़की की शादी की, वैसी न पहले देखी गई, और उम्मीद नहीं कि पीछे देखी जायगी। फिर नहीं देखी जायगी, इस कथन में एक रहस्य है। इस शादी और इसके दर्दनाक नतीजे से लोगों ने यह अच्छी तरह समझ लिया कि ऐसे अवसरों पर भी अपने पर क़ाबू रखना कितना जरूरी है। हाकिम मामा ने इस तरह हाथ खोलकर ख़र्च किया कि वह अपने को पूरा बरबाद ही कर बैठे।

पर इसमें पूरा दोष हाकिम मामा का ही समझा जाय, यह तो उन पर अत्याचार होगा। पूरा क्या दोष का एक अधूरा हिस्सा भी उन पर लादते आज आत्मा काँपती है। गर्चे हाकिम मामा मस्ताना तबियत के लोग थे, लेकिन उनके चरित, सचाई,

प्राण-पालकता, परोपकारशीलता की धूम गाँव में ही नहीं, जवार में मची थी। यही नहीं, पहलवान, गवए, अतिथि आदि के रोज़ाना सत्कार और घोड़े-मेढ़े पालने के ख़र्च के बावजूद, उनकी गिरस्ती का प्रबंध कुछ ऐसा होता कि कभी किसी ने हाकिमसिंह को किसी के निकट हाथ पसारते नहीं देखा। पेठिया भी जाते, तो घोड़े पर; लेकिन खेती-बारी के दिनों में मूसलाधार वर्षा में भी कंधे पर कुदारी लिए हाकिम मामा अपने खेतों की मेंड़ पर टहलते दीखते, और जेठ की जलती दुपहरी में भी मज़दूरों को लिए खेत की तमनी-कोड़नी में लग्न होते। 'खेत में जौ-जौ, खलिहान में सौ-सौ'—इस कथन का रहस्य वह समझते थे। उनकी खेती के मुक़ाबले गाँव-भर में किसकी खेती होती? हाँ, हाकिम मामा में दोष था, तो यही कि उदार थे, जो पैदा होता ख़र्च कर देते। जमा करके ज़मीन में गाड़ना—इसे वह सर्प वृत्ति समझते थे—मैं न खाऊँगा, न खाने दूँगा। और, सूद देना जोंक-वृत्ति—दूसरे के ख़ून पर अपना पेट पालना। इन दोनो से उन्हें घृणा—घोर घृणा थी। यही कारण था कि इँजोरिया की शादी जब हुई, तो उनके पास नक़द पैसे उतने नहीं थे, जितना वह अपनी इस प्यारी संतान—एकमात्र संतान पर ख़र्च करना चाहते थे। उन्हें ज़िंदगी में पहली बार क़र्ज लेना पड़ा।

लेकिन इस क़र्ज़ का भी उन्होंने पूरा हिसाब कर लिया था। पाँच वर्षों में इन क़र्ज़ों को पटा दूँगा, यह उनका तख़मीना

था। धान की बिक्री से इतने रुपए, मकई से इतने रुपए, गेहूँ से इतने रुपए, तेलहन-तीसी से इतने रुपए, बगीचों के फलों से इतने रुपए—यों हर साल, इतने के हिसाब से चार वर्षों में पूरा चुक जायगा। एक वर्ष और रख लो। पाँच वर्ष में बाक़ी बेबाक़। शादी-ब्याह में कौन खुल कर नहीं खर्च करता ? कितने सौभाग्यशाली हैं, जिन्हें कुछ हाथ-हथफेर नहीं करना पड़ता ? फिर, जब ज़िंदगी-भर में एक ही बेटी हो, तब क्या कहना ? अतः मामा का क्यों दोष दिया जाय, समझ में नहीं आता। हाँ, दोष उनका था, तो यही कि वह न तो दुनिया की हालत से परिचित थे, और न दैव की।

शादी के बाद से ही मामा क़र्ज़ चुकाने में जुट गए; किंतु सबसे पहले दैव ने विद्रोह शुरू किया। मकई एक वर्षा के विना खड़ी-की-खड़ी रह गई, तो धान बाढ़ से बह गया, और गेहूँ तैयार हुआ न था कि ओले गिरे। यों दैव ने उनसे आँख-मिचौनी शुरू ही की थी कि संसार-व्यापी मंदी उनके दरवाज़े पर भी आकर पैर तोड़कर बैठ गई। जो उपज भी हो, उसके दाम कहाँ मिलते ? जहाँ एक मन अनाज में चार-चार रुपए तक टन-टन बजते, वहाँ एक के बाद कुछ ताँबे के सिक्के ही आते ! और, जैसे इतने ही से पूरा नहीं पड़ता था, तो वह प्रलयंकर भूकंप आया जिसने अच्छे-अच्छे गिरस्तों की भी कमर तोड़ दी। भूकंप के बाद बाढ़ों की भरमार, फिर मलेरिए का दौरदौरा। जो बागमती स्वर्णाचला समझी

जाती थी, वह विपत्ति और बीमारी की जननी बन गई। कहिए, बेचारे हाकिम मामा करें, तो क्या करें?

• जले पर नमक छिड़कने की तरह एक बात और हुई। हाकिम मामा की गुणवती पत्नी चल बसीं। मामा के ही शब्दों में, मामी उनके घर की लक्ष्मी थीं—लक्ष्मी चल दीं, हंस कहाँ? हाँ, इस लक्ष्मी के श्राद्ध ने उनके क़र्ज़ के बोझ को कुछ और भारी बना दिया।

इन सब बातों के बावजूद मामा ने तीन-चार वर्षों तक बड़ी कोशिशें कीं; किंतु पीछे वह उदासीन-से हो चले। बार-बार की असफलता और मामी के अभाव ने ही नहीं, एक और भावना ने भी उनके उत्साह को ख़त्म कर दिया। वह सोचते—यह हैरानी-परेशानी किसलिये? किसके लिये? इँजोरिया को राजगद्दी पर बिठा ही चुका हूँ; धर्मपत्नी के प्रति अपने कर्तव्य का पालन हो ही चुका; ख़ुद भी इतनी मौज-मौज कर ली; अब काहे को यह हंगामा? सारी मनोकामनाएँ पूरी हो चलीं, हहराती-घहराती नदी की धारा समुद्र के निकट पहुँचकर शांत हो चली है—फिर इसे तेज़ करने की क्या सार्थकता? अब इस बुढ़ापे में थोड़ा भजन-भाव न क्यों हो—लोक बनाया, अब परलोक क्यों न बनाया जाय? क़र्ज़ है, तो ज़मीन भी कम नहीं है? अकेले के लिये इतनी ज़मीन क्या होगी? वे लोग ले लें। लेकिन इसी समय उनके मन में यह भावना उठती, बाप-दादों की ज़मीन क़र्ज़ में दे डालना क्या मेरे लिये

शोभनीय होगा ? क्या यह मेरे लिये नामर्दी नहीं होगी कि मैं अपना किया क़र्ज़ भी नहीं सधा सका ? बूढ़ी हड्डी में जवानी का ख़ून दौड़ जाता। लेकिन जो जवानी चली जा चुकी थी, वह क्यों लौट आती ? हाँ, इस दुविधा में कुछ नहीं हो पाता था—माया मिली न राम।

लेकिन हाकिम मामा भले ही दुविधा में हों, महाजनों के रुपए को तो कोई दुबिधा नहीं थी। साथ ही, न तो उसे सूखा सुखा सकता, न बाढ़-बहा सकती, न ओले गला सकते, न भूकंप हिला सकता, और न मंदी उसकी चाल मंद कर सकती थी। वह तो अपनी स्वाभाविक गति से बढ़ता जा रहा था। शिकायत के मारे रजिस्टर्ड तमुस्सक नहीं दिया था, हैंडनोट थे—तीन-तीन बरस पर सूद मूल मिलकर मोटे होते और फिर आगे बढ़ते। वे बढ़ते गए, बढ़ते गए, बढ़ते गए !

इस बढ़ा-बढ़ी में एक नई बात सामने आई। अब तक जिंदगी में हाकिम मामा ने कभी किसी का तक़ाज़ा नहीं सहा था। अब उसका दौरदौरा शुरू हुआ। जिस दिन कोई महाजन या उसका आदमी उन्हें टोक देता, उन्हें मालूम होता, जैसे किसी ने बरतोर को छू दिया है। वह सिहर उठते, उन्हें खाना-पीना अच्छा नहीं लगता। सोचते, फ़िज़ूल में यह मानसिक अशांति लिए बैठा हूँ। दो-एक बार उन्होंने जमीन बेचने की बात चलाई, लेकिन मंदी ने ज़मीन की क़ीमत को इतना कम कर दिया था कि भाव-साव सुनकर ही वह दंग

रह जाते। सोचते—ज़मीन की क़ीमत एक-न-एक दिन लौटेगी ही, तब तक खेपते चलो।

उन्होंने ख़र्च कम कर दिए थे, मुट्ठी कस ली थी; लेकिन जो बचत होती, वह दाल में नमक के बराबर भी नहीं थी।

सूद बढ़ता गया, तक़ाज़ा बढ़ता गया, बेचैनी बढ़ती गई, और एक दिन वह भी आया कि उन्हें एक 'समन' मिला। यह हाकिम मामा के लिये अति थी।

नालिश करनेवाला महाजन उनके गाँव का ही था। हाकिम मामा को अच्छी तरह याद है, यह आदमी अपनी ज़िंदगी के प्रारंभिक काल में उनके खेतों में मज़दूरी करता फिरता था। मामा यह भी नहीं भूले थे कि उसकी मेहनत-पसंदी देखकर वह ख़ुश रहते थे, और मज़दूरी देने में या अँटिया-मुठिया देने में उसके प्रति उदार भाव दिखाते थे। इस आदमी ने मेहनत के साथ कंजूसी को अपनाया था, और उसके बाद सूद को। ताक-ताककर ज़रूरतमंदों को कड़े-से-कड़े सूद में देता, और सख़्ती-से-सख़्ती करके उनसे वसूल करता। सूद की भी क्या महिमा है?—फिर, वह सूद, जो देहातों में चलता है। कुछ ही दिनों में वह भिखरिया से भिखारी बाबू हो गया था, और महाजनजी के नाम से पुकारा जाता था। गाँव का वह सबसे बड़ा धनी था। कल यही भिखरिया मेरे सामने गिड़गिड़ाता चलता था, आज यह मुझे अदालत में घसीटना

चाहता है। माना, सब महाजनों की तरह उसने भी तक़ाज़े किए थे, यह भी ठीक है कि वादे पर रुपए नहीं चुका सका, लेकिन अदालत में घसीटना—यह भी क्या इनसानियत है ? तमादी लग रही थी ?—तो, नया क़ाग़ज़ करा लेता। ख़ैर, बाबा मैं ऐसा उपाय किए देता हूँ कि तुम सब तमादी से छुटकारा पा जाओ। मामा ने इस बुराई में भी भलाई देखी।

उस दिन लोगों के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा, जब हाकिम मामा ने सभी महाजनों को बुलाया, और घर के नज़दीक की कई बीघे ज़मीन एक अमराई, घर और उसकी बारी, जिसमें लीची लगी थी, इतना अपने लिये रखकर बाक़ी कुल जायदाद उन्हें लिख दी। एक तो सूद कहाँ-से-कहीं चला गया था, दूसरे ज़मीन कौड़ी के भाव थी, तो भी यदि वह अड़ते, झंझटें करते, तो कुछ और जायदाद बचा लेते। कुछ लोगों ने सलाह दी—यह आप क्या कर रहे हैं, अलग-अलग टुकड़े करके बेचिए, तो भी इतनी जायदाद न जाय; नहीं तो नालिशें होने दीजिए, देखिए तो ये कैसे दख़लदिहानी हासिल करते हैं; लेकिन हाकिम मामा ने न सुनी। इस उम्र में यह झंझट, किसलिये ? एक ही दिन अपनी जायदाद को ख़तम कर इस तरह सोए, जैसे कोई घोड़ा बेचकर सोए।

अब वह साबिक़ हाकिम मामा नहीं है। घोड़े-मेढ़े, भैंसें उनके दरवाज़े के ये सिंगार नहीं रह गए। कुश्ती की ताल

ठोंक और गाने-बजाने के मधुर स्वर उनके दरवाज़े पर नहीं सुनाई पड़ते। लोगों की धमाचौकड़ी और हाहा-हूहू भी बंद हो चुका है। दरवाज़े पर सिवा दो गायों के कोई जानवर नहीं। खेत बँटाई दे चुके हैं--अच्छे खेत थे। जो उपजता, उनके लिये वही काफ़ी होता। सेवा करते, तो इन गायों की—वह उन्हें अमृत-रस देकर इस बुढ़ापे में जवान-सा रखने की कोशिश करतीं। दोनो समय बागमती-स्नान, मंदिर में पूजा-पाठ, दरवाज़े पर गोसेवा और इंजोरिया की लगाई लीची के पेड़ के नीचे एक खाट डालकर पड़े रहना—यह थी उनकी दिनचर्या। इस लीची की छाया में उन्हें इँजोरिया की शीतलता और स्निग्धता प्राप्त होती। सर्वस्व-हीन-सा होकर भी उनके हृदय में आत्मिक आनंद की लहरें लहराया करतीं। कसक थी, तो बस एक ही। यह लीची इतनी बड़ी घनी हो गई है, किंतु अभी तक इसमें मंजरी नहीं निकली! जब कोई कह देता, यह बाँझ है—तब तो वह कट-से जाते। उनकी नज़रों में यह लीची नहीं थी, यह तो इँजोरिया थी। फिर यह अपशकुन की बात।

[४]

अचानक उस साल लीची को मंजरियों से लदी देखकर जैसे हाकिम मामा के हर रोम कूप से मजरियाँ निकल आईं। लीची के रूप में उन्होंने अपनी प्यारी बेटी को मंजरियों से मंडित देखा। विटपी की यही तो सार्थकता है, किसी भी नारी

की यही तो चरम आकांक्षा है—मंजरियों से लदे, फूलों से गोद भरे।

जब मंजरियों से फल निकलने लगे, मामा की ख़ुशी की कोई सीमा नहीं रही।

साथ ही उनकी ज़िम्मेदारी भी जैसे बढ़ गई।

अब वह इस चेष्टा में लगे कि यथासंभव एक भी टिकोरा गिरने न पावे—पूरे-का पूरा बढ़े, पके। थाले में लगातार पानी पटाने से ही उन्हें संतोष नहीं था। उन्होंने नई-नई खादें भी डालनी शुरू कर दीं, पर कुछ टिकोरे तो गिरने के लिये ही होते हैं। यदि न गिरें, तो बेचारी सुकुमार डाली एक एक कर टूट न पड़े! मामा के सभी उपायों के बाद भी कुछ टिकोरे गिरते ही। किंतु उनमें से एक-एक का गिरना मामा को ऐसा मालूम होता, मानो कोई पेड़ पर बैठकर उनके कलेजे पर ढेले फेंक रहा हो। ममता ऐसी कि उन टिकोरों को भी चुनकर रखते, गिनते—उफ़्, आज इतने गिरे!—उनका कोई उपयोग नहीं था, आम के टिकोरे की तरह, वे काम के—किसी भी काम के—नहीं थे; किंतु ममता में उपयोगिता का कहाँ स्थान है? उन्हें ख़ूब संयोग कर इकट्ठे करते जाते।

जिस दिन फलों के गुच्छों में ललाई आई—बूढ़े हाकिम मामा के चेहरे पर भी ललाई की एक हल्की छाया दौड़ गई। उन्हें एक बहुत ही पुरानी बात याद आई—लीची का पहला फल इँजोरिया के दूल्हे को खिलाऊँगा।

इस ललाई पर कौन नहीं मोह जाता ? और, ललाई चाहे लीची के गुच्छों में हो, या सेंदुरिया डंभा आम के डंठल के निकट के हिस्से में या किसी के उभरे जवान गालों पर—जरूरी हो जाता है कि उसकी रक्षा की जाय। लीची की इस ललाई को आदमियों से, जानवरों से तो बचाना आसान था, किंतु उन पखेरुओं का क्या हो, जिनके पंख हवा से बातें करते है। लीची के सबसे बड़े दुश्मन तो इन्हीं में हैं—कितने घिनौने दुश्मन—दिन में कौवे, रात में चमगादड़ ! लीची खाने का किसी को हक़ हो सकता है, तो सुग्गे को, जिसके हरे पंख और लाल ओंठ लीची के पत्तों और लाल फलों में बिलकुल खप जाते हैं। यदि केवल सुग्गे की बात होती, तो मामा हाहा-हूहू पर ही संतोष कर जाते, पर उपर्युक्त दोनो दुष्टाधिराज ! इन्हें लीची छूने का भी क्या अधिकार ? मामा ने तय किया, समूची लीची पर जाल डाल दें, जिससे एक फल भी ये बरबाद न कर सकें। पर इस साध की लीची के लिये जाल भी तो असाधारण चाहिए। रंग-बिरंगे तागे ख़रीद लाए, और उनसे एक बड़ा-सा जाल बुनवाया। जाल बुननेवाले कारीगर तो काम करते ही, आप भी लगे रहते। जिस दिन हरी हरी डालियों में झूमते हुए उन लाल-लाल गुच्छों पर यह रंग-बिरंगा जाल डाला गया, मालूम पड़ता, किसी सुहाग-भरी दुलहिन को जालीदार दुपट्टा उढ़ा दिया गया ! रसीली लीची की जवानी इस सुहानी साज-सज्जा में जैसे निखर पड़ी।

लीची के नीचे, मचान पर दरी डालकर लेटे हुए हाकिम मामा डबडबाई आँखों से उसकी डाली-डाली, पत्ती-पत्ती, गुच्छे-गुच्छे को निहारते।

लोग उनकी इस तन्मयता पर वारे जाते। कहते, उफ् ! किसी पेड़ से भी ऐसी मुहब्बत हो सकती है ?

ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए—फलों में लाली बढ़ती गई, वे बड़े भी होते गए। फल काफ़ी अच्छे बढ़े। सब कहते, अजी, इसने तो मुज़फ्फ़रपुर की लीची के भी कान काट डाले। मामा कहते—"अभी बहुत देर है बबुआ ! अभी क्या आँखें गड़ाते हो—मुझे क्या खाना है ? तुम्हीं खाओगे न ? हाँ, पहले इँजोरिया के दूल्हे को थोड़ा भेज लूँगा।"

"आप क्यों नहीं खाइएगा ?"—कोई पूछता।

"मैंने यही मिन्नत मानी, तब तो यह फली है"—मामा जवाब देते। वह कैसे यह कहते कि यह मेरी बेटी है—बेटी की कोई चीज़ कैसे ग्रहण की जाय ?

इसी समय किसी ने मामा से एक दिन कहा—"आप इतना इँजोरिया-इँजोरिया करते हैं, तो ज़रा इँजोरिया को बुला ही क्यों न लेते—फल भेजिएगा, माना। किंतु इँजोरिया को जो आनंद इस लीची के फले पेड़ को देखकर होगा, वह टोकरियों लीची से भी कहाँ हो सकता है ?" मामा इस बात पर उछल-से पड़े। इधर इँजोरिया को देखे भी उन्हें कितने दिन हो गए थे ! एक पंथ—दो काज। उन्होंने झट

ब्राह्मण बुलवाया, एक अच्छी तिथि गुनवाई, और एक पत्री लिखकर तुरत इँजोरिया की ससुराल आदमी भिजवाया कि अमुक-न-अमुक तिथि को मेरी बेटी की बिदागरी का दिन है—मंजूर किया जाय। अंत में मामा ने यह भी निवेदन किया था कि यहाँ से मैं किसको भेजूँगा—सिवा इँजोरिया के मेरा दुनिया में दूसरा है ही कौन, अतः उसका दूल्हा ही उसे यहाँ पहुँचा जाय।

कहना व्यर्थ होगा—उनकी दोनो ही प्रार्थनाएँ स्वीकृत हुईं। मामा दिन-रात इँजोरिया और उसके दूल्हे का सपना देखने लगे।

[५]

हाकिम मामा सपना देख रहे थे, लेकिन उनके सपने को सदा के लिये सपना ही बनाए देखने को जिस 'सत्य' की—ठोस 'सत्य' की सृष्टि हो रही थी, उसकी क्या ख़बर थी उन्हें ?

मामा ने इँजोरिया के पास जिस दिन उसकी बिदागरी का दिन मंजूर करवाने को आदमी भेजा, ठीक उसी दिन उनके पास महाजनजी का एक आदमी लीची माँगने आया था, लेकिन मामा ने लीची नहीं दी थी—हाँ, मुलायमियत से सब बातें समझा ज़रूर दी थीं। लेकिन न तो उस आदमी को उनकी मुलायमियत से कोई वास्ता, न महाजनजी को। उन्हें लीची चाहिए थीं, लीची नहीं मिलीं, और नहीं दी उसने ? हाकिमसिंह ने, और किसके लिये नहीं दी…… ?

बारूद में आग लग गई !

बात यों है कि महाजनजी के छोटे साहबज़ादे उस समय कॉलेज में पढ़ रहे थे। पूरे साहबज़ादे—बन-ठन, तड़क-भड़क का क्या कहना ? भले ही बाप ने न कभी अच्छा कपड़ा पहना हो, न अच्छा खाना खाया हो—आज भी वह इन दोनो चीज़ों से भागता हो—लेकिन साहबज़ादे साहब पूरे साहबज़ादा थे। अँगरेज़ी कपड़े पहनते, टेबुल पर खाना खाते। गरमियों की छुट्टी में कई जगहों की सैर कर आख़िरी दौर में वह घर तशरीफ़ लाए थे। आपके साथ आपके कई अन्य घनिष्ठ मित्र भी आए थे। शहर से मोटर कर ली थी। मोटर की सड़क हाकिम मामा के दरवाज़े पर होकर ही गुज़रती थी। जब वहाँ से मोटर निकली, उनकी नज़र लीची पर पड़ने को ही थी। इस लाल-हरे पेड़ को देखकर मित्रगण मुग्ध हो गए—"यह क्या शै है भाई !"

"नहीं जानते, यही तिरहुत की मशहूर चीज़ लीची है।"

मोटर दन से निकल गई, किंतु यारों के मन से लीची नहीं निकली। दरवाज़े पर पहुँचते ही आग्रह शुरू हुआ, चलो, ज़रा उस पेड़ को देख आएँ। पर, साहबज़ादे ने शेखी में आकर कहा—"उँह, जिस-तिसके दरवाज़े पर मैं नहीं जाता। लीची मँगा देता हूँ, देख लो, चख लो—चख क्या लो, पेट-भर ठूँस लो।" फिर अपने नौकर से कहा—"जाओ, हाकिमसिंह से कहो, मेरे दोस्त आए हैं, कुछ लीची के गुच्छे

पत्ते-सहित तोड़कर दे जायँ। समझा ?—पत्ते-सहित, जिसमें ये लोग उसे अच्छी तरह देख लें। और, काफी लाने को कहना—समझा न ?"

जब नौकर आया था, मामा ने बहुत मुलायम होकर कहा—"जाओ, अपने बबुआ से कह देना, अभी लीची नहीं पकी। फिर, मेरी एक प्रतिज्ञा है। इसका पहला फल अपने दामाद को चखाऊँगा, पीछे जो जितना खाय। मुझे खाना थोड़े ही है—बाँटना ही तो है ? तुम्हारे बबुआ के दोस्तों को यहीं बुलाकर मन भर खिला दूँगा। बशर्ते कि तुम्हारे बबुआ उन्हें आने दें; वह साहब है न ?" यह अंतिम बात हाकिम मामा ने हँसते हुए कही थी।

किंतु उनकी विनम्रता, उनकी हँसी का कोई मूल्य उस नौकर के निकट भी नहीं था, तो भला मालिक की कौन कहे ? साहब का यह नौकर अपने को बड़े साहब से छोटा थोड़े ही समझता था। उसने एक के तीन लगाए। वह तीन, तीन-तीन हुआ, यानी तीन सौ तैंतीस !—साहब गरज उठे—"जाओ, अभी आदमियों को लेकर जाओ, और लाठी के हाथ तोड़ लाओ ! हाकिमसिंह की इतनी शेख़ी ! वह हैं क्या ? —अब उनकी समझ में आएगा।"

उन्हें इस समय क्यों याद आए कि हाकिमसिंह के खत में उनके बाप मज़दूरी किया करते थे, और हाकिमसिंह वह शख़्स है, जिनकी ओर अब तक लोगों की श्रद्धा के ही हाथ

उठते हैं। यह कोई आसान बात नहीं है कि लाठी के बल पर हाकिमसिंह पर विजय प्राप्त की जाय।

बेटे को तरजते-गरजते देख महाजनजी निकट आए। सब माजरा मालूम कर लेने पर कहा—"जहाँ छड़ी से काम होता हो, वहाँ लाठी भाँजने से क्या मतलब ? हाकिम-सिंह का धन तो गया, शेख़ी बची है, वह भी चली जाती है। बस, एक सप्ताह की देर है, बबुआ ! तुम्हारे दोस्तों से मेरा हाथ जोड़कर निवेदन है, एक सप्ताह ज़रूर ठहरें। ज़रा मेरे हाथ की सफ़ाई भी देख लें, और लीची भी चख लें ! लीची में अभी रस भी तो नहीं आया होगा, आठवें दिन तो यह समूचा पेड़ तुम्हारा है।"

और, आठ दिन भी नहीं बीते होंगे कि एक दिन सुबह-सुबह जब हाकिम मामा बागमती से स्नान कर, ठाकुर-बाड़ी में पूजा-पाठ से निवृत्त हो लौट रहे थे, तो देखा, उनकी लीची के निकट एक मजमा जमा है। डुग-डुग-डुग-डुग की आवाज़ भी आ रही है। क्या बात है ? वह दौड़े। वहाँ देखते हैं, चमार का एक बच्चा डुगडुगी दे रहा है। लाल पगड़ी बाँधे अदालत का एक चपरासी दख़लदिहानी का बोल बोल रहा है, और बीस-पचीस मुस्तंडे लाठी-बरछी लिए लीची को घेरे हुए हैं। मामा देखते ही भौंचक !

उन्हें देखते ही गाँव के लोगों का एक दल उनके निकट आ जुटा। यह बात सबको खली। एक ने कहा—"उफ़,

देवता आदमी के साथ यह हरामज़दगी!" एक बूढ़े सज्जन उसाँस लेकर बोल उठे—"मैंने पूछा है, महाजन, तुमने यह क्या किया?" तैश में आकर बोला—"कब की न डिग्री थी, मैं तो भलमनसाहत करके उसे रोके हुए था। जब वह मेरे बच्चे को एक गुच्छा लीची का नहीं दे सकते, तो अब चखें लीची!" किसी ने कहा—"हाकिम दादा ने उसकी कौड़ी-कौड़ी सधा दी थी, यह साफ़ बेईमानी है।" एक नौजवान छुटते बोला—"क्या विना बेईमानी के ही देखते-देखते यह अंबार लग गया है? साला कितनों ही पर यों ही झूठी नालिशें करके, एकतरफा डिग्री कराके आज बादशाह का बेटा बना फिरता है।" दूसरे नौजवान ने मानो नवयुवकों की पूरी टोली का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा—"धन की मस्ती चढ़ी है, तो आज ही वह मस्ती झाड़ दी जाती है। देखते क्या हो—चलो, सबसे पहले उस साहब के जने का ही ख़ातमा कर दिया जाय।"

मामा सुन्न-से हो रहे थे। जब जो बोलता, उसका मुँह देखते। ज़बान हिल नहीं रही थी। लेकिन क्या उनको दिमाग़ की ज़बान की ही तरह काठ मार गया था? नहीं, वहाँ कितनी ही बातें आती-जाती थीं। लीची इँजोरिया, उसका दूल्हा, वह शादी, वह जन्म, वह बधैया, वह जवानी की देह, वह उनका अलमस्त गिरोह! फिर, भिखारी, उसका बेटा, उसकी नालिश, सर्वस्व-हीनता, यह दख़लदिहानी! बवंडर

के बीच-बीच बिजली कौंध जाती। बिजली—वह पुरानी शान! उनका चेहरा रह-रहकर दिप उठता। अंततः वाणी फूट निकली—

"भैया! अपने-अपने घर जाओ। मार-पीट किससे? भिखारी और उनके छोटे साहब तो अपने कोठे में बंद होंगे। इन भाड़े के टट्टुओं से लड़कर क्या करोगे? जाने दो, सब तक़दीर का खेल है। मैं क्या था; क्या हो गया हूँ, और आगे न-जाने क्या........"

उनकी आँखों में आँसू भर आए, गला रुँध गया, सबका चेहरा भारी हो गया। मामा ने आरज़ू-मिन्नत करके सबको बिदा किया। चलते समय एक बूढ़े ने ऊपर की ओर देखकर कहा—

"भिखारी, तुम्हारा भला न होगा। तुमने गाय का रोयाँ नोचा है।"

न-जाने कैसे मामा कड़क उठे—"दादा, भिखारी ने गाय का रोयाँ नहीं नोचा है, सिंह की मूँछ उखाड़ी है। बूढ़ा हूँ, लेकिन हूँ क्षत्रिय!" तैश में आकर वह दरवाज़े से आँगन की ओर चल पड़े।

[६]

दुनिया में साध की चीज़ों की क्या यही गत बदी होती है?

बेचारी लीची, लाड़-प्यार की लीची, उसकी यह दुर्गत!

यदि उसके ज़बान होती, तो उसका रुदन-क्रंदन सुनकर न सिर्फ़ गाँव, वरन् समूचा जवार पानी-पानी हो जाता!

पाँच-सात लठबंद उस जगह पड़े रहते। इसलिये नहीं कि पंछियों से या आदमियों से उसकी रक्षा करें। वे वहाँ थे कि हाकिमसिंह यहाँ फटकने न पावें। महाजनजी के साहबज़ादे का हुक्म था, यदि वह आते हैं, साफ़ ख़ून कर दो—अपनी चीज़ की रक्षा में फाँसी नहीं हुआ करती।

वे लठबंद और उनके यार-दोस्त निर्दयता से लीची तोड़ते। जिसकी एक पत्ती कच्ची गिरे, तो हाकिम मामा को हूक होती, उसकी टहनियाँ-डालियाँ तोड़ी जातीं, और वे टहनियाँ, वे डालियाँ मामा के दरवाज़े होकर ही महाजनजी की ड्योढ़ी में ले जाई जातीं। क्यों? उन्हें हाकिमसिंह को बता देना था कि महाजनजी वह पुराने भिखारी नहीं हैं, जो उनके खेत में मज़दूरी करते थे, और हाकिमसिंह को तड़पाना भी था। गाँव क्या, जवार जानता था, हाकिमसिंह इस लीची पर जान देते हैं। यह लीची नहीं, उनकी प्यारी बेटी है। बेटी के हाथ-पाँव टुकड़े-टुकड़े कर उन्हीं के सामने से लाओ—तब उन्हें मालूम हो, बड़े से वैर करने का क्या फल होता है? समूची लीची एक दिन ही तोड़ ली जा सकती थी; लेकिन नहीं, तिल-तिल कर तड़पाओ! तड़पाओ!!

गाँव के लोग इस बेरहमी पर मारे जाते। कितने उसाँसें भरते, कितने दाँत किटकिटाते। लेकिन किया क्या जाय,

जब कि हाकिम मामा ने स्वयं ही यह सब होने दिया, और होने दे रहे हैं। कई दिन उनके हितेच्छुओं का डेपुटेशन उनके निकट गया, लेकिन उन्होंने सबको टाल दिया।

इधर हाकिम मामा घर से भी नहीं निकलते। बस, शाम को ठाकुरबाड़ी में जाकर आरती लेते, और भोर ही जाकर बागमती में स्नान कर आते। गायों के खूँटे आँगन में गाड़ दिए थे, वहीं उन्हें खिलाते-पिलाते।

लीची की इस दुर्गत ने उनके शरीर और मस्तिष्क की क्या हालत कर दी थी, यह कहने की बात नहीं। लेकिन, उन्हें सबसे तो बड़ी चिंता थी इँजोरिया की। इँजोरिया आएगी, कितनी उमगों को, हौसलों को लेकर। लीची इस साल फली है, यह सुनकर वह किस तरह खिल उठी थी—उन्हें उस आदमी ने बताया था, जो बिदागरी का दिन लेकर गया था। वह मन-ही-मन कल्पना करती आएगी—इस तरह लीची फली होगी, उस तरह उसकी रखवाली करूँगी, इस तरह खाऊँगी। मैं खाऊँगी, और खाएँगे 'वे'। 'वे'—एक अच्छर का यह शब्द, कितना भाव-पूर्ण, सरस, बाबूजी की सूझ की बलिहारी—सचमुच, यदि 'वे' नहीं चलते, तो मजा आधा ही रहता! यों न-जाने कौन-कौन से आकाश-कुसुम को हाथों उछालते इँजोरिया आएगी, और यहाँ देखेगी, लीची बाबूजी की नहीं रह गई। खैर, इँजोरिया अपने घर की है, समझा-बुझा ले सकता था, लेकिन उसका दूल्हा! यह बुलाहट लीची के लिये ही है, वह

भी जान चुका है। जब वह आकर यह देखेगा--क्या सोचेगा ? क्या अपने इस ससुर की कुपात्रता पर उसे लाज नहीं आएगी, रोष नहीं होगा ? जवानी का ख़ून—यह सरासर अन्याय क्योंकर सिर झुकाकर क़बूल कर पाएगा ?

तो संवाद क्यों न भेज दूँ कि मत आइयो। लेकिन मना करने के लिये भी तो कोई कारण चाहिए ! लीची की इस बेदख़ली की ख़बर समधियाने में भेजने से तो मर जाना अच्छा ! मर जाना अच्छा !—ठीक तो, मर जाना अच्छा ! लेकिन, कैसे मरा जाय ? मैं मर जाऊँ, इँजोरिया आकर रोए, और भिखारी और उसका बेटा तालियाँ पीटे।

उनकी आँखें जल उठतीं।

आँखें जल उठतीं। सूखे चेहरे पर ख़ून नाचने लगता, नसें झनझना उठतीं। मालूम होता, सिर चक्कर देने लगा। लेट जाते—जब उठते, तकिया भीगा हुआ पाते।

न-जाने कितने दिन दिन में कितनी बार ये बातें होतीं !

और, कल भोर में इँजोरिया ससुराल से चलेगी; शाम को या थोड़ी रात बीतते यहाँ पहुँचेगी। तेरह-चौदह कोस आना ठहरा। आगे-आगे दूल्हा होगा, घोड़े पर, किस शान में आवेगा ? पीछे-पीछे खरखरिया में इँजोरिया होगी ! किस उत्साह से आवेगी ! थोड़ी-थोड़ी दूर आगे जाकर दूल्हा अपने घोड़े को रोककर पीछे देखेगा, सवारी कितनी दूर है ? आस-पास लोगों की भनक न पा, सुनसान जानकर, इँजोरिया

ओहार हटाकर झाँकेगी 'वे' कितनी दूर आगे बढ़कर गए हैं ? मामा की आँखों में अपनी जवानी के ऐसे ही दृश्य घूमने लगे। यों ही वह घोड़े पर; मामी खरखरिया में !

आह !—मामी कहाँ है ?

मामा को मालूम हुआ, मामी आकाश के उस तारे से उनको बुला रही हैं—क्यों नहीं आते, बहुत दिन हुए, अब आ जाओ, अकेले अब नहीं रहा जाता !

[७]

मामा को उस रात नींद नहीं आई ?

दिमाग़ में बवंडर, देह में ज्वाला। आँगन में लंबे डग से टहलते-टहलते थक जाते, तो लेटते। लेटते-लेटते उकता जाते, तो फिर टहलते। कसमस !

कई बार पानी से सिर धोया। कई बार रामायण निकालकर पढ़ने चले। कई बार माला लेकर खटखटाई। लेकिन चैन नहीं, कल नहीं। उफ़्—क्या मैं पागल हो जाऊँगा ?

लीची-लीची ! इँजोरिया-इँजोरिया। दूल्हा-दूल्हा ! वह दुष्ट भिखारी दुष्टाधिराज उसका बेटा !

उफ़्, मैं पागल हो जाऊँगा क्या ?

मन में एक भीषण संकल्प !

नहीं—नहीं—नहीं ! नहीं, हरगिज़ नहीं ! नहीं !—नहीं !

इतने ज़ोर से चिल्लाने लगे कि पड़ोसी जग जाय।

क्या सचमुच मैं पागल होने जा रहा हूँ ?

नहीं, मैं सोऊँगा !

मामा उसी समय दरवाज़े के कुएँ पर आए, स्नान करने लगे। पड़ोस का एक आदमी पेशाब करने के लिये उठा था। इस बेमौक़े नहानेसे उसे अचरज हुआ। "कौन ? हाकिम दादा ? आज क्या है दादा ? हाँ, गरमी आज सचमुच ज्यादा है।"

"कितनी रात होगी बबुआ ?"

"पहर रात से नीचे ही दादा !"

स्नान करके मामा घर आए। आँगन में बिछावन ले आए। सो गए ! सो गए !

एक झपक—

इँजोरिया आई है। ओह ! बिलकुल जवान हो चली है। पैर पकड़कर रोती है। फिर उठते ही बारी की ओर बढ़ती है—बाबूजी चलिए, लीची देखूँ।

दरवाज़े पर दूल्हा कह रहा है—"छिः, बिना रोक-टोक के ही दख़लदिहानी दे दी ! क्षत्रियों की शान ..."

मामा चौंककर उठे। सीधे देवता के घर में पहुँचे। वहाँ दो तलवारें रक्खी हुई थीं। मामा पाँच-छ दिनों से घर से बिलकुल नहीं निकले थे। अतः घर की, शग़ल के लिये ही, उन्होंने एक-एक चीज़ को सँभाला-सुधारा था। इन दिनों तलवारों की धार भी ताज़ा की थी। ख़ानदानी तलवार थी—उस ज़माने की, जब तलवार में ही सब शक्ति-संपत्ति निहित थी। उसके लोहे का

क्या कहना ? ज़रा शान देनी थी, वह चमक उठी थी ! मामा ने देवता को प्रणाम किया। दोनो तलवारों को उठाया। घर से बाहर गए। एक बार घर को नज़र भरकर देखा—फिर चल पड़े।

× × ×

भोर ही ख़ून-ख़ून का शोर होने लगा। वह आवाज़ महाजनजी के दरवाज़े से आ रही थी।

महाजनजी और उनके साहबजादा गरमी से परेशान दरवाज़े की अँगनई में सोए हुए थे। किसी ने—शायद दो आदमी रहे होंगे—दोनो पर इस ज़ोर से तलवार चलाई थी कि एक का तो सिर धड़ से अलग था, और दूसरे का आधा कंधा और गर्दन कट चुकी थी। यदि एक आदमी रहा होगा, तो पहले वार में महाजनजी के साहबज़ादे का सिर काटा होगा, और दूसरे वार में वह चूक गया होगा; लेकिन यह चूकना क्या था ? ज़रा-सी साँस आ रही थी, जो एकआध घंटे में बंद ही होनेवाली थी। हुई भी !

जब लाशें तड़पने लगी थीं, लोग जागे थे। किसी ने एक आदमी को भागते भी देखा था; लेकिन किसकी हिम्मत, जो मौत का पीछा करे !

एक ने कहा—

"शायद हाकिमसिंह ने यह किया होगा।"

कुछ लोग हथियारों से लैस हाकिमसिंह के घर आए। दरवाज़ा बाहर से बंद। समझा, कहीं भाग गया है। पड़ोसी ने कहा—"वह बागमती स्नान करने गए होंगे। समझ-बूझकर तुहमत लगाओ।"

लेकिन जाँच-बूझ ऐसे अवसरों पर? घर का ताला तोड़कर कुछ लोग भीतर घुसे। ख़ून के आतंक से सभी दहशत में थे। यों पड़ोसी इसको बरदाश्त नहीं करते, लेकिन इस समय चुप रहने में ही कल्याण था।

घर की रत्ती-रत्ती छानकर कुछ लोग पागल-से बागमती की ओर दौड़े।

समूचे गाँव में हलचल थी! दो-दो ख़ून! उफ़्, ऐसा तो कभी नहीं हुआ!

और, हाकिमसिंह नहीं मिल रहे हैं! क्या कहीं भाग गए?

ख़ून-ख़ून की आवाज़ सुनते ही लीची के सभी रखवाले भी अपनी लाठियाँ-बर्छियाँ सँभालकर महाजनजी के घर की ओर दौड़े थे। जब बहुत दिन चढ़े तक हाकिमसिंह का कोई पता नहीं चला, लाशें थाने की ओर ले जाई गईं, और समूचा गाँव थर्रा उठा, रखवाले लीची के निकट आए।

उनमें से एक मचान पर—हाकिम मामा के ही गाड़े हुए मचान पर—जाकर विश्राम के लिये जब चित लेटा, अपने ऊपर लीची की डाल में एक विचित्र दृश्य देख चिल्लाता हुआ भागा।

उसका भागना था कि सब उसके पीछे भागे।

"भूत ! भूत ! भूत !" थोड़ी देर के बाद घिघिआते हुए वह बोला।

लोगों ने पेड़ के निकट जाकर देखा—अजीब दृश्य !

दोनो तरफ़ दो तलवारें लटक रही हैं। बीच में एक आदमी एक दोकनिया पर बैठा बीच के तने को पकड़े हुए-सा है। वह कौन है ? हाकिमसिंह ! हाकिमसिंह !

वह आदमी, इतना शोर होने पर भी ज़रा भी हिल-डुल नहीं रहा है। क्या बात है ? क्या वह छल किए हुए बैठा है कि दो ख़ून कर चुका, एकआध का और सही !

कौन बढ़े ?

दुर्भाग्य से जिस दिन यह दुर्घटना हुई, मैं ननिहाल में ही था। हल्ला सुनकर मैं भी वहाँ जा पहुँचा था। मैं हाकिम मामा की रग-रग से परिचित था। किसी निरपराध पर उनका हाथ उठ नहीं सकता था। फिर मैं तो उनके प्यारे लड़कों में से था। मैंने सोचा, चलकर उनसे उतरने को कहूँ, और अब जो होना है, उसे सामना करने को उन्हें धैर्य दूँ। लेकिन यह क्या ! यह तो हाकिम मामा नहीं; यह तो उनकी लाश थी।

शरीर पर कोई घाव नहीं, कोई दूसरा मारक चिह्न नहीं, फाँसी तो लगाई ही नहीं, फिर यह क्या हुआ, कैसे हुआ ?

हाकिम मामा की लाश नीचे लाई गई। उनके सिर में लहू का चंदन था।—बस, एक यही विशेष चिह्न !

आज तक भी यह रहस्य ही है कि हाकिम मामा ने प्राण कैसे छोड़े।

कोई-कोई कहते हैं, उन्होंने योग सीखा था।—योगी लोग जब चाहे, प्राण को शरीर से निकाल सकते हैं।

किंतु मैं विज्ञान का उपासक, इसे यों मानूँ ? और, फिर इस लीची की डाल पर ही योग की यह मरण-साधना क्यों ?

तब क्या बात थी ?



उस दिन झोपड़ी रोई

रमेश बाबू और राघो एक ही गाँव के थे।

राघो के पूर्वज बेवक़ूफ़ थे—क्योंकि न तो उन्होंने लाठी के ज़ोर पर किसी का हक़ छीना, न सूद के नाम पर किसी का गला घोटा, न किन्हीं दो काठ के पुतलों को लड़ाकर अपना उल्लू सीधा किया, न किन्हीं भोले-भाले भावुकों को फँसाकर मीठी छुरी से ज़बह किया। संक्षेप में, अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न, धोखा, जाल, मक्कारी आदि की शरण नहीं ली। अतः

वह सदा ग़रीब रहे, ग़रीब मरे, और राघो को भी ग़रीब बनने को बाध्य किया।

किंतु, रमेश बाबू के पूर्वज चतुर थे—ख़ासकर उनके पिता तो चतुर-शिरोमणि थे। उन्होंने संपत्ति के त्रिदेव—लगान, सूद और मुनाफ़ा—की ही आराधना नहीं की, इनके साथ-साथ उन भूत-प्रेतों की भी पूजा की, जिनके विना इन त्रिदेव की महिमा अक्षुण्ण रह ही नहीं सकती। कितने घर उनके नाम पर धूल चाट रहे हैं, कितनी ही आँखें उनके काम पर आँसू का तर्पण किया करती हैं। कितनी ही बरबादी का इतिहास उनके शुभ नाम के साथ जुड़ा हुआ है, कितनी ही दग़ाबाज़ी और शैतानी की कहानियाँ उनकी उज्ज्वल कीर्ति को बढ़ा रही हैं। आख़िर चतुराई का दूसरा अर्थ ही क्या है?—दूसरों को लूट-खसोट-कर अपना घर भरो। लोग कहेंगे, यह अँगरेज़ी राज्य है, इसमें लूट कहाँ, कैसे? इसका जवाब हम नहीं देना चाहते। लोगों से केवल यही सुना है कि गाँव के चौकीदार से लेकर ज़िला के अफ़सर तक उनकी मुट्ठी में रहे, तभी तो कितने ख़ून के मामलों को भी वह पचा गए थे। ख़ैर, जनश्रुति पर हमें जाना नहीं है, संक्षेप में केवल यही कहना है कि वह चतुर-शिरोमणि थे, फलतः धनी बने, धनी रहे, धनी मरे, और मरकर भी धनी बना गए रमेश बाबू को।

इस चतुराई को केवल हमीं नहीं स्वीकार करते, दुनिया भी कहती है। तभी तो वह रमेशप्रसादसिंह को रमेश बाबू कहती और राघोप्रसादसिंह को राघो नाम से पुकारती है। हाय री दुनिया! आह री उसकी विवेचना-शक्ति!

रमेश और राघो दोनो स्कूल गए। रमेश फेल होते रहे, राघो वज़ीफ़े पाता रहा। जिस समय राघो बी० ए० ऑनर्स की तैयारी कर रहा था, रमेश का छकड़ा मैट्रिक के दरवाज़े पर ही अटका पड़ा था। इतने ही में गांधी की आँधी उठी। राघो ने देश की पुकार पर अपने भविष्य पर लात मार दी। रमेश अपने छकड़े को घसीटते ही रहे। आख़िर, प्रोफ़ेसरों के मुँह में रस-गुल्ले भरकर और परीक्षकों की अक़्ल पर चाँदी का परदा डाल-कर वह एम्० ए० पास कर ही गए। ख़रगोश पीछे पड़ गया, कछुए की विजय रही।

राघो कई बार जेल काट आए। आंदोलन धीमा पड़ने पर एक राष्ट्रीय विद्यालय में भर्ती हो गए। क्या करते ? जिसने अपनी सुंदरी लड़की निर्धन राघो को—वज़ीफ़ा देखकर भविष्य की आशा पर—पढ़ते समय ही सौंप दी थी, उसकी आशा-वादिता को चरितार्थ करने के लिये नहीं, तो कम-से-कम अपनी इस सुशीला पत्नी के भरण-पोषण के ख़याल से उन्हें कुछ पैसे कमाने थे ही। किंतु राष्ट्रीय विद्यालय में जितने पैसे मिलते हैं, वह सभी जानते हैं। परसाल जब फिर सत्याग्रह-युद्ध छिड़ा, और राघो ने दो वर्ष के लिये जेल-यात्रा की, तब उनकी पत्नी के पास कितना सामान था, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है, वर्णन नहीं हो सकता। पत्नी भी अकेली न थी—बाल-बच्चोंवाली थी।

इधर रमेश बाबू एम्० ए० की डिग्री लेकर जब बाहर हुए, तो अपर कौंसिल और बोर्ड की धुन सवार हुई। लेकिन,

उन्होंने देखा, इन स्थानों पर अब राष्ट्रीयता आ बैठी है। समय को पहचाननेवाले जीव थे। जिस पैतृक चतुराई ने विश्व-विद्यालय को मात किया था, उसी ने उनके शरीर पर खादी का कुँरता, सिर पर गांधी टोपी और पैर में मदरासी चप्पल पहना दिए। राष्ट्रीयता ने उनका लोहा मान लिया। वह स्वराज्य-पार्टी के प्रमुख सदस्य बने, एम्० एल्० सी० हुए, लोकल बोर्ड के चेयरमैन (कुरसी-पुरुष) भी। अब चारों ओर रमेश बाबू की धूम थी। रमेश बाबू देश-भक्त थे, नेता थे। रमेश बाबू के महल और मोटर ने वह कर दिखाया, जो राघो की तपस्या और त्याग न कर सके थे।

फिर संग्राम छिड़ा। अब रमेश बाबू घबराए। इतनी जल्दी यह क्राइसिस (संकट) आ जायगा, इसकी कल्पना तक उन्होंने नहीं की थी। बग़लें झाँकने लगे। किंतु कोई चारा नहीं था—एक तरफ़ खाई, दूसरी ओर कुआँ था। इसी पशो-पेश में ही थे कि ख़बर उड़ी—रमेश बाबू पर वारंट कट चुका है कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दी गई, फिर नेता बचते कैसे? तो परवा क्या? जिस यतींद्रनाथ दास और उसके साथियों को वह जी-भर गाली देते रहे, उसके चलते ही हज़ारी-बाग़ का स्वास्थ्य-भवन उनके लिये सुरक्षित था। 'ए' डिवीज़न के क़ैदी नहीं, तो 'बी' कहाँ जानेवाला है। हलवा, दूध, अंडे, पाव रोटी, गद्दा, तकिया, मशहरी—सब कुछ। जो कमी होगी, वह जेल के 'पिछले दरवाज़े' से। पैसे से क्या नहीं हो सकता? सरकार जेल में एक ही दरवाज़ा बनवाती है, किंतु पैसे की

महिमा देखिए, वह पीछे से भी एक दरवाज़ा खुलवा देता है! धन्य पैसा, धन्य पैसा-पति!

तो पहले एक प्रदर्शन हो जाय! मोटर लेकर रमेश बाबू उड़े। अपने हलक़े-भर में घूम आए। उनके दूत आगे-आगे दौड़ रहे थे। सब जगह पहले से ही मालाएँ गुथी थीं, चंदन घिसा था, आरती सजी थी। रमेश बाबू की जय-जयकार से हलक़ा-भर गूँज उठा।

राघो भी जेल गए थे—कई बार। किंतु, यह प्रदर्शन की बुद्धि उनमें कहाँ? शायद वह इससे घृणा भी करते थे। किंतु, करते रहें घृणा वह। रमेश बाबू इसकी उपयोगिता जानते थे। और, इसीलिये तो वह इस क्षेत्र में आए भी थे।

ख़ैर, रमेश बाबू को सज़ा हो गई, और मैजिस्ट्रेट ने दो वर्ष की कड़ी क़ैद कस दी। और, सबसे बड़ी ज्यादती तो यह की गई कि उन्हें 'सी' क्लास में झोंक दिया गया। 'सी' क्लास सुनते ही रमेश बाबू के होश उड़ गए थे। किंतु, क्या करें? इतने माला, चंदन और आरती के बाद अब माफ़ी भी तो नहीं माँग सकते थे।

× × ×

कैंप जेल के दक्षिण-पश्चिम कोने पर चार फूस की झोपड़ियाँ बनी हैं। छूत की बीमारीवाले रोगी उन्हीं में रक्खे जाते हैं।

उन्हीं झोपड़ियों में से एक में एक बीमार खाट पर पड़ा कराह रहा है। उसे वह बीमारी है, जो कैंप-जेल में गलफुल्ली के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कनपटी से लेकर कंठ तक सूज

जाता है—ऐसा कि खाना कौन कहे, कुछ पीना भी मुश्किल हो जाता है। बुख़ार तो और ग़ज़ब ढाता है। सबसे बढ़कर पीड़ा और टीस। बीमार छटपटाता और कराहता रहता है।

बीमार खाट पर पड़ा कराह रहा है—बहुत ही धीरे-धीरे, बहुत ही संयत भाव से। मालूम होता है, वह पीड़ा को चुप-चाप पी जाना चाहता है, टीस को निगल जाना चाहता है। किंतु, बहुत कोशिश करने पर भी वह ऐसा नहीं कर पाता। एक-एक बर्छी-सी कनपटी में घुसती और गले से आर-पार निकल जाती है—एक जलती सलाई-सी उसकी नस-नस में दौड़ने लगती है। मालूम होता है, छाती दरक गई, दिमाग़ फट पड़ा। रह-रहकर उसकी आँखें सजल हो जातीं, नाक से उसाँसें निकलने लगतीं, और मुँह से अकस्मात् 'आह' निकल पड़ती। वह छटपटा रहा है, कराह रहा है।

आज सोलह महीने से वह जेल में है। जब से आया, वह कभी बीमार नहीं पड़ा। वह हँसकर कहा करता—"बीमार पड़ने की मुझे फ़ुरसत कहाँ?" सचमुच उसे फ़ुरसत कहाँ थी! सुबह चार बजे से रात्रि के आठ बजे तक—उसका समय एक निश्चित कार्य-क्रम में बँटा था। वार्ड-बंदी के आठ घंटे उसका विश्राम-काल था।

जेल की चहल-पहल का वह केंद्र था। रोगियों की देख-भाल करना, सभाएँ और जलसे कराना, अनेक तरह की कसरतें सिखाना, खेल-कूद को प्रोत्साहन देना उसका काम था। और, सबसे मुख्य काम था लोगों को पढ़ाना-लिखाना। उसी के

उद्योग से जेल में एक बाज़ाब्ता राजबंदी-विद्यालय और कई अध्ययन-केंद्र आदि चल रहे हैं।

किंतु न-जाने क्यों, वह अचानक बीमार पड़ा। और, बीमार पड़ा ऐसा कि लोग भौचक्के रह गए। 'गलफुल्ली' तो हुई थी बहुत लोगों को, यह यहाँ की आम बीमारी हो गई है, किंतु इसका ऐसा भीषण रूप तो कभी नहीं देखा गया। उसकी पीड़ा देखकर किसी को धैर्य नहीं है। बहुत-से दीवाने युवक उसको घेरे हुए सब प्रकार सेवा कर रहे हैं—किंतु तो भी वह छटपटा रहा है, कराह रहा है। जो दूसरों को धैर्य देता, जिसके माथे पर कभी शिकन नहीं देखी गई, जो विनोद और हास्य की साक्षात् प्रतिमा था, वही छटपटा रहा है, कराह रहा है!

इसकी पीड़ा देखकर लोगों ने चाहा कि जेल-अधिकारी इसके लिये कोई ख़ास प्रबंध करें—अपने इस सेवक पर उन लोगों की ऐसी ही ममता थी, ऐसा ही स्नेह था। किंतु जेल-अधिकारियों को फ़ुरसत कहाँ थी? वे लोग तो एक दूसरे क़ैदी के लिये व्यस्त थे, जो हास्पिटल नं० २ में पड़ा था।

× × ×

और, वह दूसरा क़ैदी सख़्त बीमार था। ज़रूर सख़्त बीमार था, नहीं तो जेल-सुपरिंटेंडेंट उसको देखने के लिये सबेरे-शाम, बिला नाग़ा क्यों आते? क्यों डॉक्टर उसकी देख-रेख में इतना, इस क़दर, व्यस्त रहते?

वह सख़्त बीमार था। वह टहलता था, फिरता था; खाता था, सोता था; खेलता और हँसता भी था—तो भी वह सख़्त

बीमार था। हाँ, खेल तथा शतरंज की दो-चार बाज़ियाँ, ताश के दो-चार हाथ; और, खाता था केवल अंगूर के 'कुछ' गुच्छे, नारंगी का 'थोड़ा' रस, लोफ के 'दो' स्लाइस, गरम-गरम, मक्खन से लिपटे। 'थोड़ा' दूध भी लेता था, किंतु साधारण दूध उसे रुचता न था, माल्टेड का जमा हुआ दूध। तो भी वह सख़्त बीमार था। आप कहेंगे, भला, यह कैसी सख़्त बीमारी है, बाबा! आप ही-ऐसे बहुत-से बेवक़ूफ़ लोग हैं, जो ऐसा ही प्रश्न किया करते हैं, किंतु इससे क्या? विलायत से डॉक्टरी पास करके आए हुए सुपरिंटेंडेंट ने भी मान लिया है कि वह सख़्त बीमार है।

वह सख़्त बीमार है, क्योंकि वह एम्० एल्० सी० था, वह एक बड़े ज़मींदार का बेटा है, और स्वराज्य-सरकार में शायद मिनिस्टिर होगा!

कैंप-जेल के क़ैदियों ने भी मान लिया है कि यह सख़्त बीमार है, किंतु इस बीमारी का कारण वह कुछ अजीब बतलाते हैं। उनका कहना है कि जब से यह ज़मींदार का सपूत जेल आया, तभी से बेचारे को बेहद परेशानी उठानी पड़ी है। सुपरिंटेंडेंट के साथ इसको दौड़ना, जेलर के साथ इसे घूमना, डॉक्टरों के साथ इसको बैठना, जमादार की संगत इसको निभानी। बेचारा क्या करे, परेशान रहता। ख़ासकर उस दिन तो परेशानी और 'काम' की हद हो गई, जिस दिन राजबंदियों ने, अपनी कई शिकायतों को दूर न होते देख, वार्ड में बंद होने से इनकार कर दिया था। अजीब समा था।

दिन-भर कलेक्टर, पुलिस-सुपरिंटेंडेंट, आई० जी० आदि का आना-जाना लगा रहा। शाम को एक ओर पाँच सौ पुलिस के जवान संगीनों को सीधी किए खड़े थे, दूसरी ओर कैंप जेल के दो हज़ार क़ैदी, प्रहार की प्रतीक्षा में थे। उस समय यह सपूत, न-जाने किसके इशारे पर, उठा, और लगा गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ाकर, पैरों पर नमकर, लोगों से वार्ड में बंद होने को कहने। कुछ भोले-भाले, ख़ासकर उसके हलक़े के वे लोग, जिन पर उसके धन का रोब जमा था, उसके चकमे में आ गए; और उन लोगों को लेकर वह अपने वार्ड में जा बंद हो गया! एक ओर तो लोग, प्राणों की बाज़ी लगाए, बाहर खड़े थे; दूसरी ओर इसकी यह करतूत! कैंप-जेल के राजबंदी कहते हैं कि चूँकि उस दिन उसने इस 'सुकर्म' में बड़ी मेहनत की थी, अतः वह सख़्त बीमार है। किंतु, मालूम होता है, क़ैदियों का यह कथन द्वेष-वश है—बड़ों के विरोधी बहुत होते हैं।

जो कुछ हो, इतना निश्चित है कि इस क़ैदी को लेकर जेल-अधिकारी इतने परेशान हैं कि किसी दूसरे की ओर ख़ास ध्यान देना उनके लिये मुश्किल हो रहा है। क्या करें—बेचारे लाचार हैं! और, लाचार को विचार क्या?

× × ×

ख़ैर, जेल-अधिकारी अपने कर्तव्य से भले ही चूकें, भले ही द्वेष-भाव रक्खें, किंतु प्रकृति न तो कर्तव्य से चूकेगी, न द्वेष रक्खेगी। आज आषाढ़ के लगते ही उसने संसार को जल-

दान दिया, तो वह कैंप-जेल को भी नहीं भूल सकी। चैत, वैशाख, जेठ—तीन महीने तक भट्ठी में तपने के बाद आकाश को बादलों से घिरा देख कैंप-जेल के प्राणी आनंद-विह्वल हो रहे हैं। बूढ़े चहक रहे हैं, बच्चे उछल रहे हैं। और, जब रिमझिम वर्षा होने लगी, कई वार्डों से बारहमासा की तान सुन पड़ी। मनोभाव न रुक सका—गीत के रूप में फूट पड़ा।

पानी की कुछ बूँदें, फूस की झोपड़ी के छप्पर को छेदकर, हमारे बीमार के कपाल पर आ गिरीं। वह आँखें मूँदे अर्ध-मूर्च्छित दशा में पड़ा था। चौंका। ऊपर देखा। एक के बाद एक, ताँता बाँधे, बूँदें आ रही थीं। निकट के परिचारक से इशारा किया। वह झटपट एक हाथ में लोहे की 'बाटी' उठाकर ऊपर से आनेवाली बूँदों को रोकने लगा, और दूसरे हाथ से कपाल पर की बूँदें पोंछ दीं, और बड़बड़ा उठा—"बदमाश ने झोपड़ी को छवाया भी नहीं; दम नहीं था, तो क़ैद काहे किया।"

ये सहज भाव से निकले सीधे-सादे शब्द बीमार के कानों में पड़े। किंतु, पड़ते ही उसके मस्तिष्क में, उसके हृदय में, उसकी नस-नस में उन्होंने कैसी आँधी की सृष्टि कर दी!

बीमारी में भावुकता बढ़ जाती है, विचार-शक्ति दब जाती है। मनोवैज्ञानिक इसकी क्या व्याख्या करेंगे, हम नहीं जानते। हम तो केवल यही कहेंगे कि भावुकता हमारी जन्मगत प्रवृत्ति है, अतः अपनी चीज़ है, दुःख-सुख में यह हमें नहीं छोड़ती। विचार-शक्ति 'प्राप्त' की गई चीज़ है, अतः पराई चीज़ है, वक़्त पड़ते ही भाग खड़ी होती है। दुःख या सुख की

लकीर जितनी ही लंबी होती जायगी, विचार-शक्ति उतनी ही दूर और भावना-शक्ति उतने ही निकट आती जायगी। यदि लोग हमारी इस व्याख्या को मान लें, तो उन बेचारों को लोग न कोसें, जो सुख की अधिकाई में ठट्ठा मारकर हँसते और दुःख में फूटकर रोते हैं।

यहाँ भावना-शक्ति ने विचार-शक्ति पर विजय पाई। विवेक भाग पड़ा, भावुकता ने रंग बाँधने शुरू किए।

बीमार की आँखों के सामने उसकी फूस की झोपड़ी नाचने लगी, और नाचने लगीं उसके साथ ही तीन निरीह आत्माओं की असख्य यंत्रणाएँ। उसकी झोपड़ी भी तो परसाल से नहीं छाई गई है! वहाँ भी इस समय बूँदों की झड़ी लग गई होगी। उसमें कैसे होगी उसकी रानी, उसकी मुनिया, उसका कुमार। रानी, मुन्नी, कुमार—कैसे होंगे। रानी.........................

"उफ़्! झोपड़ी को छवाया भी नहीं; जब दम नहीं था, तब क़ैद काहे किया।"

ज़रा बेहोशी, फिर चेतना, फिर भावना—

उसकी रानी—उसकी टूटी कुटिया की रानी—उसकी रूठी दुनिया की रानी। फटे वस्त्रों में रखकर भी जिसको उसने 'रानी' की उपाधि दी थी, अकिंचन जानते हुए भी जिसने उसे 'राजा' कहकर पुकारा था। कितने प्यार से रखता था वह अपनी रानी को, कितने दुलार से रखती थी उसकी रानी उसे! उसके सारे अभावों को जो अपनी एक सरल मुस्किराहट से भर देती थी, उसके सारे अवसाद को जो अपनी बाँकी

चितवन से दूर कर देती थी। कैसे होगी उसकी रानी इस समय—इस समय, जब उसकी झोपड़ी चू रही होगी, उसका छप्पर रो रहा होगा। रानी—रानी................. ....

"झोपड़ी को छवाया भी नहीं; जब दम नहीं था..........."

फिर बेहोशी। फिर संज्ञा। फिर भावुकता—

उसकी मुनिया बेटी—छोटी, चंचल, फुदकती हुई—ठीक मुनिया चिड़िया की तरह। चहचहाती रहती, फुदकती फिरती। राष्ट्रीय विद्यालय के छोटे वेतन में से जो कुछ बचता, उसमें से कुछ आने निकालकर जिसके लिये वह किशमिश और मिही-दाने नहीं भूलता, वही मुनिया, मुन्नी रानी कैसे होगी? कैसे रहती होगी, क्या खाती होगी; क्या खा........मु........

"जब दम नहीं था, तब........"

शून्य दृष्टि से छप्पर का निहारना। आँखें मुँद गईं—फिर वही—

कुमार! कुमार! वह बच्चा, जिसका मुँह भी उसने नहीं देखा था, जिसका जन्म उसके जेल आने के बाद हुआ था। वह कैसा होगा? खबर सुनकर जिसका नामकरण उसने मन-ही-मन 'कुमार' कर रक्खा था, कैसा होगा उसका वह कुमार? आह रे कुमार, आह रे उसकी मा—रानी—

"जब........तब........"

और देश में आज एक उसकी रानी, उसकी मुनिया, उसका कुमार ही तो ऐसी हालत में नहीं होंगे। आषाढ़ की इस पहली संध्या को, जब कि संसार में अजस्र आनंद की धारा-वृष्टि

होनी चाहिए, कितनी ही रानियाँ, कितने ही कुमार, आज.... उसकी आँखों के सामने सैकड़ों, हज़ारों, लाखों, करोड़ों अबलाओं, बच्चों-ग़रीबों, मासूमों के अश्रु-पूर्ण चेहरे नाचने लगे—

झमाझम वर्षा होने लगी थी। उसको मालूम हुआ, सारा संसार आज रो रहा है—आकाश रो रहा है, बादल हाहाकार कर रहा है, पवन चीख़ रहा है, दिशाएँ उसाँसें भर रही हैं, पृथ्वी आँसू से भीगी हुई है।

रुदन! हाहाकार! चीख़! उसाँस! आँसू!

उसकी आँख और झोपड़ी में प्रतिद्वंद्विता मच गई—कौन अधिक रोती है, कौन अधिक पानी बरसाती है।

पानी—आँसू। आँसू—पानी।

कैंप-जेल का २ नं० अस्पताल-वार्ड का एक कोना हँस रहा है! वहाँ शतरंजी बिछी है, हँसी का फ़ौवारा छूट रहा है!

फूस-वार्ड की झोपड़ी रो रही है! वहाँ झोपड़ी रोती है, आँखें रोती हैं, और रोता है हृदय का कोना-कोना।

झोपड़ी रो रही है।

झोपड़ी सदा से रोती आई है, रोती है, और रोती रहेगी—चाहे जहाँ की झोपड़ी हो।

महल हँस रहा है।

महल सदा से हँसता आया है, हँस रहा है, और हँसता रहेगा।